किसानों का देश

विवेकी राय

प्रकाशक—
कर्मयोगी प्रेस,
आज़मगढ़।

प्रथम संस्करण
१९५६
मूल्य ४||)

मुद्रक—
हनुमान मुद्रण यंत्र,
पियरी कलाँ, वाराणसी।

काशी के

सफल-साहित्यचिंतक

प्रो० सुधाकर पाण्डेय को

जिनसे

साहित्य-साधना में

हमें

नवीन स्फूर्ति

मिली

दो शब्द

इस पुस्तक में उस देश के सुख-दुख का वर्णन है जिसमें मैं रहता हूँ और जो बहुत ही बेचारा है। जिसे लोग गाँव कहते हैं। इससे हमारी गहरी आत्मीयता है। कोई दूसरा इसकी निन्दा करता है तो नहीं सुहाता परन्तु स्वयं मैंने अनेक बातों को लेकर इसे जी भर कोसा है, यह समझ कर कि ऐसा करना हमारा अधिकार है। किसी जाति सम्प्रदाय धर्म और पेशे के प्रति चोट पहुँचाने की भावना कदापि नहीं है। शिकायत में सुधार की भावना है। ध्वंस वाले भाग को देखा गया है ताकि निर्माण की नई-नई दिशायें मिलें। कतिपय स्थलों पर विरोधी बातें भी मिल सकती हैं। गाँव की समस्याओं की विकट उलझनें इसके कारण हैं। निवेदन है कि भूल पर ध्यान न देकर मूल भावना परखें। ग्रामीण और किसान शब्द में मैं अन्तर नहीं कर पाया हूँ। उनके सरस वातावरण को पुस्तक में सजीव करने के लिए कई स्थान पर उनके मुहावरे और विशिष्ट शब्द ज्यों के त्यों प्रयुक्त किए गए हैं। भारतीय ग्रामीण जीवन में मुझे कविता की रमणीयता, नाटक की गति शीलता, उपन्यास की मनोरंजकता, कहानी की समवेदना और निबन्ध की गम्भीरता मिली है। कह नहीं सकता कि उनका समवेत चित्रण होने के कारण ये इसमें कहाँ तक सफल, सजीव उतर पाये हैं।

जुलाई १९५९
सोनवानी
कारों (गाजीपुर)

विवेकी राय

इस पुस्तक में

विवेकी राय जी की भाषा मनोरंजक, सजीव, विचार विवेक से परिपूर्ण और विषय की विवेचना साधार तथा आकर्षक है। रचना की सफलता के लिए बधाई।

कमला पति

२५-४-५५

[मंत्री, सूचना और सिंचाई विभाग, उत्तर प्रदेश]

विषय-सूची

—*—

किसानों का देश

विवेकी राय की अन्य पुस्तकें

प्रकाशित—

अर्गला	(कविता संग्रह)
जीवन परिधि	(कहानी संग्रह)

प्रकाशन के पथ पर—

किसानों का जीवन	(सम्पूर्ण ग्राम चित्र)
निशान्त	(काव्य)
प्यास	(गीतों का संग्रह)
परिवा	(फुटकर कविताओं का संग्रह)
समाज निर्माण	(छात्रोपयोगी निबन्ध)
आत्मा के न्यायालय में	(डायरी)
बात के बासन में तुलसी दल	(कोष)

*

डासत ही गई बीत निशा

"डासत ही गई बीति निशा, हरि !
कबहुँ न सेज नींद भरि सोयो।"

आज गाँवों का जीवन भी ऐसा ही दुखमय हो गया है। सम्पूर्ण आयु किसी अनागत भविष्य की सुख-सुविधा की तैयारी में खोजाती है। एक दिन भी सुख का उपलब्ध नहीं होता। जीवन भर ग्रामीण हाय हाय करते हैं, एड़ी का पसीना चोटी करते हैं, मरते समय भी काम के अम्बार से मुक्ति नहीं मिलती। यही नहीं, उनके द्वारा छोड़े अधूरे कार्य को उनकी सन्ताने भी पूर्ण करती करती वैसे ही अधूरा छोड़ कर इहलीला समाप्त करती हैं। संसार-सुख की यह अनवरत चलने वाली, कभी पूर्ण न होने वाली तैयारी का महा दुख दायी स्वरूप आज गांवों में विशेष रूप से दृष्टि गोचर होता है। वैशाख जेठ का महीना आता है। फसल कट जाती है। घर में अन्न के दाने दिखाई पड़ने लगते हैं। किसान उस समय अपने आवास की ओर, खौंते की ओर ध्यान देता है। उसकी गिरी पड़ी दशा को सुधारना चाहता है। द्वार के सामने वह मिट्टी डालता है। चिल-चिलाती दो पहरी में वह खेत से, गढ़े से और नदी से खोद खोद कर मिट्टी लाता है और स्थान को ऊँचा बनाता है। कल्पना करता है, बरसात आने वाली है। जिस रात को बादल चले जायेंगे, इसी ऊँची भूमि पर चारपाई डाल कर पुरवाई की लहर लूटे गा। चाँद और

चाँदनी तथा बादल और बिजली तक किसान की कल्पना कम जाती है। वह तो कल्पना भी उस सीमा तक करता है, जहाँ तक काम का सम्बन्ध है। बरसात में मच्छर बहुत लगते हैं। और लोगों की तरह ये किसान की भी नींद हराम कर देते हैं। मसहरी का मूल्य किसान की समझ में इतना ऊँचा होता है कि वह स्वभावतः अपने को उसके प्रयोग से वंचित समझ लेता है। अतएव मच्छरों की टोली के आक्रमण से त्राण प्राप्ति का एकमात्र साधन हवा ही होती है जिसके झोंकों में ये उड़ जाते हैं। इसी लिए किसान कल्पना करता है कि इस ऊँचाई पर बरसात में बहुत आनन्द आये गा। मिट्टी वह इस लिए डालता है कि नीची जगह में पानी जमा हो जाता है और फिर ऊँची जगह ऊँची ही है। मिट्टी के एक एक ढेले में किसान के अरमान होते हैं। स्थान की एक एक इञ्च भूमि पर किसान के सपने होते हैं। बड़े प्रेम से वह अपने वासस्थान को सँवारता है।

शनैः शनैः सरकती हुई बरसात आती है और उसकी मूसलधार वर्षा में पिघल पिघल कर किसान के अरमान बह चलते हैं। आश्चर्य तो यह कि उसे उस ओर ध्यान देने का भी अवकाश नहीं! उसका एक ओरी खिसकी ही रहती है। कोई न कोई सुख-सुविधा का अंग-भंग ही रहता है। कच्चे मन की भाँति कच्चे घर हैं, अतः वासना जैसी बरसात में उनका देर तक टिका रहना सम्भव नहीं होता। वे जिस क्षण उठते हैं, उसी क्षण गिरने की तैयारी करने लग जाते हैं। बरसात प्रारम्भ होते ही पानी के उपद्रव एवम् उपयोग के चक्कर में इस प्रकार किसान कस जाता है कि मरने तक की फुरसत नहीं होती। पुरवा का आनन्द और ऊँची जगह चार पाई डाल कर निर्विघ्न नींद की गोद में विश्राम की बात बहुत दूर छूट जाती है। कहीं किसी घर का बल्ला टूट गया है। वह गिरना ही चाहता है। कहीं बीच छत से ही धारा उमड़ पड़ी है और घर के भीतर पनाला बन गया है। बन्दरों ने जो स्वतंत्रता पूर्वक

आवागमन के लिए घर खपरैलों से बने अपने निजी राज मार्ग का का सदुपयोग किया; था अपना क्रीड़ा-स्थल बनाया; उसका परिणाम हुआ कि एक बूँद भी पानी बाहर नहीं जा रहा है। ये सर्वथा बेकार बन्दर, बालकों के मानोरंजन, बूढ़ों के सिर दर्द और घरों के लिए, खेती बारी के लिए लंका के हनुमान बने गाँवों की छाती पर आसन जमाए बैठे हैं। टोका तो, इनकी बन्दर घुड़की बहुत मशहूर है। जिस घर पर इनकी शनि दृष्टि पड़ जायगी उसमें रहने वालों की जिन्दगी जवाल हो जायगी। गाँव के किसी पाजी लड़के ने किसी घर की छत पर चावल फेंक दिया। अब ये महावीरजी एक एक दाने को बीन लेने के लिए सारी खपरैल को उधेड़ डालेंगे। एक बार भगा दो तो दूसरी बार, तीसरी बार फिर आयेंगे। ये सब उपद्रव हैं जो किसान की उस वैशाख जेठ वाली कल्पना को साकार नहीं होने देते। उसके घर के काम ऐसे मोटे, बेडौल और अस्त व्यस्त हैं कि वह सदा उलझनों के जाल में छटपटाता रहता है। ऐसे भी भाग्यवान गांवों में हैं जिनके पास सुख-सुविधा के साधन विद्यमान हैं, किन्तु गांवों की जीवन-प्रणाली, का अज्ञानान्धकार इतना घना है कि वे उनका उपयोग नहीं कर सकते। हैं भी ऐसे लोग कम। [illegible] किसान ऐसे ही हैं जिनका परिश्रम द्वारा एकत्र माटी ढेलों के रूप में बरसात के पानी के साथ बह जाता है और दूसरे वर्ष के लिए रिक्त स्थान को पुनः मिट्टी डालने और सुख की कल्पना के लिए खाली छोड़ जाता है। यह जीवन का चक्र सदा चलता रहता है। किसान जीवन भर अपने कच्चे घर को सँवारता रहता है। इतने पर भी वह नहीं सँवारता। अपने इस अभाव और दुःख से किसान समझौता कर लेता है। दुख भी उसे सुख जैसा हो जाता है।

पारिवारिक जीवन की चर्चा अभी छोड़ दें। वह तो सर्वथा छिन्न-भिन्न हो चुका है ही। गाँव वालों का व्यक्तिगत जीवन बड़ा दुख

दायी है। गाँवों के निवासी किसान अभाग्यवश ऐसे गरीब हैं जो धनी कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त व्यापार करने वाले बनिए, सेवक, मजदूर तथा अन्य देशों वाले लोग रहते हैं। साधारणतः लोग यह लोकोक्ति दुहराते जीते हैं कि भगवान ने मुँह चीर दिया है तो आहार देगा ही। ये सभी घनघोर तंगी के मकड़ जाल में छटपटा रहे हैं। सभी अभाव के एक निचले स्तर पर हैं। सभी अपने जीवन से असन्तुष्ट और खिन्न हैं। किसी को भर पेट भोजन नसीब नहीं होता। किसी के पास तन की लज्जा निवारण तथा गर्मी शीत से रक्षा के लिए भरपूर वस्त्र नहीं। अभंग और मानव के रहने योग्य निवासस्थान तो विरले भाग्यवानों के ही पास है। सद् गृहिणी का अभाव भी अधिकांश के जीवन को जाल बना रहा है। गाँववालों के कान कलह-कलाप से जैसे प्रण परि पक्व हो गए हैं। सभी अपनी कल्पनाओं को नित्य धराशायी होते देखते हैं। कोई अपने द्वार पर खिली हुई पशुओं की जोड़ी देख कर प्रसन्न होता है, फूला न समाता है और गाव से सिर ऊँचा करता है। दूसरे ही क्षण ऋण का चढ़ता बोझ, गृहकलह, मुकदमों का दमतोड़ दलदल उसके पेट में बगोले की तीरह, तूफान की तरह घूम जाता है। और आनन्द की कलियों की मसल कर सुख के सपने चकनाचूर कर देता है। कोई धरती की छाती पर लहलहाते अपने खेतों को देखकर आनन्द के समुद्र में गोते लगाने लगता है कि घर में चलता फांके पर फांके का ख्याल उसे पीड़ा के कीचड़ में डाल देता है। जिनके पास घर नहीं है। जिनके पास खेत नहीं है। आज के बाद कल खाने का जिनके पास कोई ठाक-ठिकाने का साधन नहीं है, जिनके पास अन्न का दाना नहीं, पर सालाना एक-एक करके बढ़ती हुई बाल-बच्चों की एक विशाल सेना है, जिनके घरों में बीमारी ने पैर तोड़कर आसन जमा लिया है, जिनका रोजगार चौपट हो गया है और जो कौड़ी-कौड़ी के मुहताज हैं, जो मांग कर ही पेट भरते हैं, जिनके पास ऊँची इज्जत है, परन्तु निम्नकोटि का जीवन

बिताने भर का साधन नहीं है उन सफेद पोश देहातियों का क्या कहना है ! दुर्भाग्य वश आज का गाँव ऐसे ही लोगों का भार लिए कराह रहा है। प्रत्येक व्यक्ति जैसे दुख का एक इतिहास है, जिसका भूत वर्तमान ही नहीं भविष्य भी दुखमय है। बाहर हँसी है, भीतर रुदन है। अन्तर वेदना, टीस और शूल से व्यथित, जर्जर और आहत है परन्तु बाहर वही पुश्तैनी हँसी है। उसका रूप अवश्य ही कुछ फीका और मलिन हो गया है।

बुरे दिन आते हैं तो दरिद्रता आसन जमाकर बैठ जाती है और सब कुछ विपरीत हो जाता है। अच्छी बातें भी बुरी हो जाती हैं। विवाह एक सामाजिक उत्तरदादित्व है। यह जीवन का वह मोड़ है जहाँ से व्यक्ति अकेले नहीं, अपनी जीवन-संगिनी के साथ यात्रा के लिए आगे बढ़ता है। वह पथ में सरलता, सुरक्षा और आनन्द का अभिलाषी होता है। आज स्थिति कुछ और है। विवाह के साथ ही गाँव के अधिकांश लोगों के दुखमय जीवन का श्रीगणेश हो जाता है। कुछ ऐसी कुप्रथाएँ हैं और ऐसी सामाजिक रूढ़ियाँ हैं जो ग्रामीण जीवन की जड़ में घुन की तरह लगी हैं। बड़े घरों की स्त्रियाँ विवाह के पश्चात् बन्दी बना दी जाती हैं। बन्दी जीवन में बन्दी को हँसने-बोलने और अपने स्थान के पूर्ण उपयोग की सुविधा होती है परन्तु हमारी इन बेचारी ग्रामीण कुल वधुओं को इतनी स्वतन्त्रता नहीं रहती। शुद्ध हवा मिलने का उनका नैसर्गिक अधिकार छिन जाता है। उनकी दुनियाँ घरकी चहारदीवारी के भीतर सीमित कर दी जाती है। ग्रामीण जीवन का एक अंग दुनियाँ से दूर अन्धकार में सड़ा करता है।

यह वह दुनियाँ है जहाँ बालविवाह है, अनमेल विवाह है और है वृद्ध-विवाह। अतिरिक्त इसके अशिक्षित माताएँ "हमारा-तुम्हारा" का कुछ ऐसा कुरोग कन्याओं में भर देती हैं कि ससुराल में वह महा-रोग-राजरोग बनकर फूटता है और कुल संहार का कभी-कभी कारण

बन जाता है। सम्मिलित कुटुम्ब का प्रेम और सहयोग सूत्र टूट जाता है तो वह पूरा कलह-कार्यालय हो जाता है। आए दिन गाँवों में इस प्रकार के गृहयुद्ध के नमूने अधिकांश परिवार में मिल रहे हैं। इस प्रकार वैवाहिक जीवन को कराहते हुए देख रहे हैं। व्यक्तित्व का वह विकास जिसकी आशा गाँवों में की जाती है दबता जाता है। आज तो टी० वी० के मरीजों की संख्या भी यहाँ बढ़ने लगी है। भोजन की कमी और असंयमित जीवन ने इसे प्रकृति की इस मुक्त क्रीड़ास्थली में लाकर छोड़ दिया है। सौभाग्य से जहाँ जीवन सौन्दर्य प्रकृति के स्वस्थ सहयोग से फूट निकलना चाहिए वहीं दुर्भाग्य वश युवकों का वैवाहिक जीवन ऐसा असफल होता है कि गरीबी में वे टी० वी० मोल ले बैठते हैं। यही नहीं ७० स्त्रियाँ डाक्टर-वैद्यों और सोखा-देवा के यहाँ मासिक धर्म की अनियमितता के फेर में चक्कर काटा करती हैं। गाँवों की स्वस्थ दुनियाँ में ये दो महारोग आज तेजी से प्रवेश कर गये हैं।

इस पतन के पश्चात् भी स्वस्थ जीवन के आदर्श का गाँवों में सर्वथा अभाव नहीं हो गया है। हाँ, ऐसी शिक्षा नहीं जो उस आदर्श को विकसित करने की प्रेरणा दे। गाँवों के बाहर आज भी अखाड़े की धूल पर थिरकती सुनहरी जवानी देखने को मिल जाती है। बल वीर्य की कान्ति से दमकते चेहरे आज भी गाँवों की गलियों में खिले दृष्टिगोचर हो जाते हैं। पुरुष के साथ मिलकर गृहस्थी का कार्य करने, घर के घेरे के बाहर प्रकृति के मुक्त क्षेत्र में विचरने एवम् पूर्ण श्रम, पक्व स्वास्थ्य के साथ-साथ उत्तम शारीरिक विकास की स्थिति में मीठी गहरी नींद का आनन्द लेने का आदर्श भी नारी जगत में मिलेगा। अवश्य ही यह श्रम की सीमा नीची जाति के लोगों में सीमित है। प्रायः उच्चवर्ग अपनी प्राचीन रूढ़ियों के कारण कुसंस्कारों में जकड़ा है। उनकी झूठी इज्जत है, झूठी शान है और हैं ढेर-ढेर-सी अन्ध परम्पराएँ।

यद्यपि ऊँच-नीच की खोखली मर्यादा के दुर्ग आज ढह रहे हैं तथापि शिक्षा के अभाव में गाँव वाले प्रायः पुराना ही स्वप्न देख रहे हैं।

गाँव वाले खाने-पीने की सभी वस्तुएँ उत्पन्न करके भी भूखे रह जाते हैं। यह भोजन भाव बेहद शर्म की वस्तु है। कुछ युग का प्रभाव है जो शोषण कर लेता है, कुछ निजी अज्ञानता है जो किसान को जकड़े रहती है। एक किसान के पास भैंस है। वह काफी दूध देती है। उस किसान से आशा की जायगी कि वह मजे में दूध-घी खायेगा एवम् वह तथा उसका परिवार सुखी और स्वस्थ होगा। विपरीत इसके होता यह है कि किसान उस दूध-घी को रुपये की शकल दे देता है। स्वयं माठा पीकर सन्तोष करता है। वह रूखा-सूखा खाता है। विटामिन का महत्व वह क्या जाने? ऐसे ही एक परिवार का मालिक अपने सदस्यों को सब्जी इसलिए नहीं देता कि वे अधिक भोजन कर जायेंगे। वे एक प्रकार से निर्वाह करते हैं अथवा विनोबा के शब्दों में "जी इस लिए रहे हैं कि मर नहीं जाते।" उनका काम जहाँ तक भोजन बिना चल सकता है, चलाते हैं। यथाशक्य भोजन में कृपणता करते हैं। यह एक अजीब-सी बात है। यह सत्य है कि किसान गरीब हैं और उन्हें दाने के लाले पड़े रहते हैं पर यह भी असत्य नहीं कि वे इतने भूखे हैं कि खाने की हुनर पास नहीं! उनके पास खेत हैं, बेकार जमीन है। वे सब्जी उगा सकते हैं। पर ऐसा नहीं करते। भोजन में सब्जी के महत्व को वे समझते ही नहीं हैं। वे मुख्य भोजन में चावल या रोटी को रखते हैं और अमुख्य में कुछ सब्जी या दाल। कभी-कभी नमक मिर्च भी काम चलाने के लिए काफी होता है। कुछ क्षेत्रों में दिन में सत्तू का प्रचार है। कितने लोग चना-चबेना पर ही दिन काट देते हैं। कितने रस पीकर रह जाते हैं। कितने काम में अपने को भुलाए-भुलाए भोजन को भी भुला देते हैं। यह है उनके भोजन का रूप। अनाज पैदा करके भी वे भूखे क्यों रह जाते हैं इसे हम अन्यत्र बतायेंगे। यहाँ

तो सिर्फ यह बताना अभीष्ट है कि आहार शास्त्रियों ने मनुष्य के लिए भोजन का जो परिमाण निश्चित किया है उसका दशमांश भी गाँव वालों को नहीं मिलता। अचरज की बात है कि वे जीते हैं और काम करते हैं। यह उनके स्वच्छन्द जीवन और स्वस्थ वायु मण्डल का प्रभाव होता है। शनैः शनैः उनके स्वास्थ्य का स्तर गिरता जा रहा है। पुराने ग्रामीण जितने ऊँचे, मोटे और तन्दुरुस्त होते थे आज उनके आधे भी नहीं हो रहे हैं। शहरी लोगों की तरह संक्षिप्त शरीर वाले मानव गाँवों में दिखाई पड़ने लगे हैं। नस्ल ही बिगड़ती जा रही है। पुराने लोगों की भुजाओं के बराबर आज के लोगों का जानु रह गई है। यह भोजन का कुप्रभाव है। बिना दूध-घी और पौष्टिक खाए इन्सान जी रहा है, यही बहुत है। गाय-भैंस वाले अर्थ-चक्र में पड़े रहते हैं। रुपया बनाने वाला निन्यानवे का फेर बड़ा प्रबल है। भोज के रूप में भी ह्रास दृष्टिगोचर हो रहा है। चावल खाने का प्रचार दिनोदिन बढ़ रहा है। कितने गाँवों में यह बड़प्पन का निशानी माना जाने लगा है। पुराने रोटी-लिट्टी खाने वालों का उपहास किया जाता है। चावल खाने वाले चिकने तो हुए पर ये चिकने ग्रामीण कृषि-प्रधान भारत वर्ष के लिए किस काम के सिद्ध होंगे?

दुनिया का प्रमुख धन अन्न किसान उत्पन्न करता है अतः यह दिन की तरह स्पष्ट है कि दुनिया के प्रमुख धन कुबेरों में किसानों का नाम प्रथम होना चाहिए। पर ऐसा नहीं है। वे लूट लिए जाते हैं। उनकी सिधाई का नाजायज फायदा उठाकर कुछ पशेवर तिकड़मी ने ऐसा जाल बिछाया कि वे फँसे ही रह जाते हैं। फिर एक बार फँसने पर तो छुटकारा मिलना कठिन ही है। किसान के अन्न से ही दुनिया का काम चलता है। किन्तु किसान सीधे जरूरत मन्दों को बेच नहीं पाता। यही उसका दुर्भाग्य है। व्यापारी हैं, सेठ हैं, ये किसानों का जीवन-रस मोल ले लेते हैं। फलतः समस्त रस उनको पेट में

जाता है। किसान सीठी मात्र का अधिकारी रह जाता है। वह संगठित हो कर अपना अन्न रोक भी नही सकता। उसे बेचना अनिवार्य हो जाता है। बेचने के लिए व्यापारियों के पास जाना ही पड़ेगा। व्यापारी मनमानी लूटते हैं। अब धर्माधर्म और न्यायान्याय का कौन ध्यान रखता है? जब तक अन्न के आदान प्रदान द्वारा किसान का काम चलता था, सुखी था। आज बाजार में जाकर वह बुरी तरह लुट गया। शोषण का निर्मम शिकार बन गया। देवकुरी गए दुख दूना हो गया। सब से बड़ा दुर्भाग्य यह है कि वह आज स्वावलम्बी नहीं रह गया। उसे जीवन-यापन की अधिकांश वस्तुएँ क्रय करनी पड़ती हैं। खरीदने के लिए मुद्रा चाहिए। अब रह मुद्रा-चक्र उन व्यापारियों के में उसे उठा कर फेंक देता है। वहाँ शोषण सामने, पीछे, बगल में, नीचे और ऊपर चारों ओर तना है। कठिनाई यह कि स्वयं उसका जीवन भी तो आज सादा नहीं रह गया है? वस्त्र, आभूषण, साज-समान, औजार, तेल, जूता और अन्यान्य सुख के समान देख देख कर वह कब तक धीरज रखे? अपने जीवन के पूरे ठाट बाट का संरक्षक दाम रख छोड़ा पर बेचारा किसान परिस्थिति की इस घुड़ दौड़ में पिछड़ कर अपने अन्न का दाम चढ़ाने से रह गया और बुरी तरह पिस गया!

बड़े बड़े शोषकों और किसानों के बीच गाँव के बनिए एक छोटे शोषक के रूप में हैं। गाँव वालों का सीधा सम्पर्क इन्हीं से होता है। इन्हीं के माध्यम से वह अन्न मण्डियों में भेजता है। मुनाफे का कुछ भाग इन्हें भी मिल जाता है। छोटे-मोटे सौदे के लिए इन्हीं की दूकान में किसान अपना अन्न लेकर जाता है। एक प्रकार से ये ग्रामीण जीवन के आवश्यक अंग हो गए हैं। इनके बिना उनका काम नहीं चल सकता। दुर्भाग्य वश ये बनिए किसानों की स्त्रियों और उनके बच्चों को एक तरह चोर बनाते हैं तो दूसरी तरफ उन्हें बाजार में ले जाकर बुरी तरह लुटवा देते हैं। यद्यपि ये स्वयं भी उसी लूट चक्र के दाँतों के

नीचे होते हैं पर इसका पता नहीं होता। प्रायः देखने में आता है अनाज के ग्रामीण व्यापारी दो चार बर्ष के बाद पैसे-पैसे के मुहताज हो जाते हैं। इनके पास पूँजी तो है ही नहीं। मण्डी बड़े बड़े व्यापरियों की कृपा पर चलते हैं। वहां भाव का एसा उतार चढ़ाव होता है कि ये क्या जाने और लाभ के लोभ में भूल की नौका भी बैठ जाती है। अनाज जब गोलों में पहुचाता है तो बड़े बड़े दाँत सूई की तरत चुभ कर उसका रस खींच लेते हैं। 'धर्म खाता है' '[illegible]' (पान खाने का टेक्ट) 'मोटि हाई' 'कन्टा कराई' 'गर्दा' और तरह तरह की संस्थाओं का चन्दा है। विचित्र जाल हैं। यह सारा भार पड़ता है किसान पर। उसका सोना अन्त में उसे मिट्टी बन कर मिलता है।

गाँव के बनियों को देख कर किसान सोचता है कि ये कैसे सुखी हैं ? खेती न बारी परन्तु मौज से रहते हैं। मुकदमे भी नहीं लड़ते। मार-झगड़ा भी किसी से नहीं करते। खेती जैसी आकर्षक वृत्ति भी उनका नहीं है। इज्जत आबरू का लिफाफा भी नहीं है। चिकना अन्न खाते हैं। यह किसान न नहीं जानता कि अपनी जीविका के लिए ये दिन रात कितना परिश्रम करते हैं। धूल फाँकते और पसीना बहाते हैं। एक दिन भी हाथ पर हाथ रखे बैठ जाय तो घर का चूल्हा ठंडा हो जाय। दुनिया के सारे आमोद-प्रमोद छोड़कर चौबीस घण्टे उन्हें अपने उस छोटे से व्यापार का चिन्तन करना-पड़ता है। एक एक पाई जोड़ कर वे जीवन संघर्ष में टिकत हैं। इसपर भी कभी साहस करते हैं और व्यापारिक भाव के उतार चढ़ाव में पाँव फिसल जाता है। तब ये कहीं के नहीं रह जाते पेट पर पत्थर बाँधे ये समय के झोंके को चुपचाप सहते हैं। साधारणतः लोग कहते सुने जाते हैं कि "आज ही बनिया कल ही सेठ"। 'सेठ' का अर्थ धनी व्यापारी और 'बनिया' का अर्थ गरीब व्यापारी। तात्पर्य यह कि गांव का व्यापारी कभी सेठ हो जाता है

कभी बनिया। किसान की भाँति वह अधिक दिनों तक एक ही स्थिति में नहीं चलता।

गाँव का वह वर्ग जो न खेतिहर है और जो न व्यापार ही करता है वह इन दोनों को ईर्ष्या की दृष्टि से देखता है। कारण यह कि उसे मजदूरी के लिए किसान के पास जाना पड़ता है और सौदे के लिए बनिए के पास। उसे ऐसा भान होता है कि किसान और बनिया दोनों चैन की वंशी बजा रहे हैं। हम सारे दिन हाय हाय करते हैं तब भी पेट की बनी रहती है। किसान बैठे बैठे हुकुम चलाता है अथवा थोड़ा हाथ-पैर हिला देता है और ये बनिए बैठे बैठे माल मारते हैं। इस प्रकार प्रत्येक अपने जीवन से सन्तुष्ट नहीं है और दूसरे से ईर्ष्या करते हैं। प्रत्येक की दृष्टि में दूसरा सुखी है और दुख का भाग केवल उन्हीं के मत्थे पड़ा है।

गाँव के रहने वाले चाहे वह किसान हों, चाहे मजदूर, चाहे व्यापारी और चाहे 'पवनी' (सेवक) सभी दुखी और विपन्न हैं। हैं। जीविका के लिए सभी कठिन श्रम करते हैं तब भी सभी के हृदय में सुख के लिए हाहाकार बाकी रह जाता ही है। वह सुख भी क्या मरीचि का है? ज्यों ज्यों उसके पीछे चलते हैं, दूर होता जाता है। भोगों की तैयारी में जीवन व्यतीत हो जाता है। मरते दम तक असन्तोष रह जाता है। गाँव का जीवन ही कुछ ऐसा हो गया है। यहाँ सब कुछ ऊटपटाँग, बेडौल और अधूरा होता है। आश्चर्य है कि गाँव वाले इस से ऊबते नहीं हैं। ऊब जाते तो नए रास्ते निकालने की छटपटाहट होती। वे छटपटाते नहीं, हिलते-डुलते हैं, जागते नहीं और उलटपलट के लिए फुफकारते नहीं, यही इस बात का प्रमाण है कि वे अपनी इस दुखद परिस्थिति। से इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि अभाव में जीवन बिताना उन्हें तनिक भी नहीं खटकता। अपने को उन्होंने चारों ओर से ठोक पीटकर, अपने

मन को मार-मार कर ऐसा बना लिया है। उनका दुख ही सुख हो गया है।

गाँव के किसान के सिर पर अखिल संसार का बोझ है। जीवन की मूल वस्तु भोज्य सामगी का वह उत्पादक है। उसे लेने के लिए अन्य लोग तरह-तरह का स्वांग बनाकर, तरह-तरह की तड़क-भड़क और तिकडम लेकर उसके पास जाते हैं। कोई कानून का ज्ञाता है। कोई विद्या-दान का व्यवसाय करता है। कोई मिलों के भीतर जीवनोपयोगी वस्तुओं का निर्माता है। कोई शासन-यन्त्र के विविध पुरजों के रूप में सेवा करता है और कोई किसान तथा उक्त सेवकों के बीच अन्नादि के आदान-प्रदाग का माध्यम व्यवसायी हैं। समस्त क्रिया-व्यापार के बीच किसान हैं। अखिल जीवन के मूल में किसान हैं। यह किसान गाँवों में रहने वाला है। इसीलिए गाँवों को देश का हृदय भाग कहा जाता है। यहाँ से समस्त शरीर में प्राणवाहिनी शिराएँ धवल रक्त लेकर सचरण करती हैं। दैवदुर्वि पाक से आज किसान और उसके गाँव की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई है। देश का हृदय भाग ही रोगी हो गया है। इस सर्वस्व ग्रासी क्षय में देश दम तोड़ रहा है। इसकी औषधि ऊपर-ऊपर से व्यर्थ होगी।

सर्व प्रथम गाँव और ग्रामीणों को मानवता के सामान्य स्तर पर लाना होगा। शिक्षा-दीक्षा की आज बड़ी धूम है। परन्तु शिक्षा किसे ? नर को या वानर को ? जीवनोपयोगी वस्तुओं के अभाव में, शोषण के अनवरत चक्र में पिसकर और शदियों की उपेक्षा के फलस्वरूप गाँव वाले आज बदल गये हैं। उनकी प्रशंसा में आज भी गीत चाहे जैसे-जैसे गाये जायँ पर वास्तविकता तो यह कि वे आज अपना मानवपन ही गँवा बैठे हैं। उनकी आशाएँ, उनकी अभिलाषाएँ पग-पग पर धराशायी होती हैं। उन्हीं के सामने धरती पर पड़ी छटपटाया करती हैं। वे विवश होकर कलेजे पर पत्थर रखकर देखा करते हैं।

माघ के महीने में अपने गदराए खेतों को देखकर किसान फूला न समाता है। उसकी छाती गजभर हो जाती है। वह सिर ऊँचा कर मेढ़ पर विरहा की तान छेड़ता चलता है। परन्तु वैशाख आते-आते उसकी सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है। उसकी अभिलाषाओं की झोपड़ी में आग लग जाती है। उस समय यह फैसला हो जाता है कि उसके भाग्य का कितना है ? वह खेतों में हँसता है परन्तु खलिहानों में रोता है। जैसे-तैसे खलिहान उठकर घर आता है। घर आते ही अन्न देवता के पर जम जाते हैं। अपने मालिक को छोड़कर वे उड़ जाते हैं। बेचारे हाथ मलते, पछताते रह जाते हैं। किसान साल के प्रारम्भ होते ही ऋण लेने की योजना बनाने लगते हैं। गाँव के कुछ नमक चाटकर धनी बन जाने वाले लोगों की पाँचों अंगुलियों के लिए वह अनायास ही घी बन जाता है। उसके सर्वस्वापहरण का यह कुचक्र निरन्तर चलता—चलता रहता है। अच्छे दिन आ रहे हैं, इस आशा में वह जीवन-सागर को हेलता, मचलता, एड़ी का पसीना चोटी करता चलता है किन्तु भाग्य के निष्ठुर हाथ उसे कभी वरदान या सहायता नहीं देते। कहा जाता है कि किसान गरीबी में पैदा होता है, गरीबी में पलता है अपनी सन्तानों के लिए भी गरीबी की वरासत छोड़कर संसार से यात्रा करता है। उसके जीवन में ऐसे दिन नहीं आते जो सुखमय हों। उसको बचपन से लेकर बुढ़ापे तक कठिन अभावों की आँच में जलना पड़ता है। नित्य उसे हाय-हाय लगी रहती है। कोल्हू के बैल की भाँति आँखों पर पट्टी दिए वह एक ही केन्द्र के चारों ओर चक्कर काटा करता है। उस सीमित परिधि में जिसमें अभाव और वेदना का ही प्राधान्य है, अभ्यास के अनुसार वह जीवन भर चलता रहता है।

प्रश्न यह है कि वह क्या करे ? जीवन व्यतीत करने के लिए और लोग जिस प्रकार कोई न कोई व्यवसाय करते है। यह उसका पुश्तैनी

पेशा है। उसकी नस-नस में यह रमा हुआ है। इस पेशे की योग्यता उसे जन्मजात प्राप्त है। इसकी पवित्रता के विषय में उसकी नैसर्गिक आस्था है। इसे वह धर्म समझ कर करता है। कष्ट होने पर भी करता है। धर्म मार्ग में कष्ट होता ही है। वह जानता है कि विश्व भरण-पोषण का भार उसी पर है। उसका यह पवित्र व्यवसाय न केवल पेट के लिए है बल्कि इसका उद्देश्य कुछ और है। उसका विश्वास है कि यह इस जन्म में भले लाभप्रद सिद्ध न हो, प्रत्यक्षतया भले नरक भोग जैसा हो किन्तु इस जीवन के पश्चात् अप्रत्यक्ष रूप से उसके लिए स्वर्ग सोपान सदृश्य सुख सामग्री और आनन्द प्रसाधन है। उसकी यह भोली भावना है किन्तु इस वैज्ञानिक यन्त्र युग में, जिनमें प्रत्येक विचार प्रत्येक कार्य की कीमत रुपए-पैसे में आँकी जाती है, इस भावना की कितनी उपयोगिता है, कहने की जरूरत नहीं है। उसका भोलापन आज मूर्खता का द्योतक समझा जाता है। उसकी धर्म भावना शोषण का हथकण्डा बन जाती है। उसका पवित्र पेशा इसी जन्म में उसे मार डालने का षड़यन्त्र सिद्ध होता है। उसके चारों ओर विज्ञान युग की दोहन कला मायाजाल बिछाए ताक में रहती है और वह अनायास उस जाल में गिरता है, छटपटता है। उठने का प्रयत्न करता है। फिर गिरता है और इसी प्रकार उसका जीवन चक्र चलता रहता है।

अब दो एक दृश्य देखें। प्रचण्ड धूप का साम्राज्य है। ऊपर जलता हुआ सूरज और नीचे तपती हुई धरती। पशु-पक्षी तक आड़ पकड़ कर विश्राम करते हैं। चमचमाती हुई धूप और आग बगोलों में एक किसान ही है जो विराम नहीं लेता। कुएँ पर वह नंगे बदन पानी निकाल रहा है। नाली बना रहा है। क्यारी बना रहा है एवम् खेत सींच रहा है। उसका शरीर पसीने से लथपथ हो जाता है। धूप की ज्वाला जलाइ जाती है। किन्तु उसके चेहरे पर शिकन नहीं आती।

अपने पवित्र-पेशे के नाम पर वह प्रकृति की आग से जी भर कर खेलता है।

दूसरा दृश्य है। घनघोर जाड़े की ऋतु है। सारा संसार गरम उपकरणों में शरीर लपेटे पड़ा है। शीत के काँटे बाहर निकलने पर खाए जाते हैं। कितने इस कड़ी ठण्डक में आग के सहारे ही जीते हैं। ऐसे कठिन समय में अभी सूरज निकलने में दो-तीन घण्टे शेष हैं, किसान शरीर पर गमछा डाले अपने बैलों के साथ कुएँ पर जाता है। पानी निकालने के अपने सैकड़ों वर्ष पुराने परम्परागत यन्त्र को ठीक करता है। खेत सींचने का काम शुरू होता है। नौ दिन चले अढ़ाई कोस वाली कहावत कभी भले अत्युक्ति समझ कर कही गई हो परन्तु आज तो किसान की यह सिंचाई देखकर सत्य ही जान पड़ती है। चार-पाँच जीव कड़ाके की सरदी में पानी से खेल रहे हैं। दिन भर खेलेंगे। और इनका कार्य तब तक समाप्त नहीं हो जायगा जब तक दो घड़ी रात गए सभी जीव थक कर चूर नहीं हो जायेंगे। श्रम के इस लम्बे चौड़े ठाटबाट से क्या निकला। भला एक डेढ़ बीघे खेत की सिंचाई मशीन युग के एक जीव के आधे घण्टे का काम मात्र!

तीसरा दृश्य है। मूसलाधार पानी बरस रहा है। ज्ञात होता है कि आकाश धरती पर टूट पड़ेगा। सारी दुनिया पानी पानी हो गई है। हाहाकार मचा हुआ है। बिजली चमकती है। बादल गरजते हैं। धैर्य छूट जाता है। घर के भीतर सुरक्षित जगह में प्राणिमात्र रक्षा पाते हैं। कोई दुर्भाग्य वश बाहर पड़ गया तो वर्षा की बूँदों से उसकी दुर्गति हो गई। गोली की तरह लगती हैं वे! मशीनगन की तरह। फिर पानी का वह उपद्रव अपनी वीरता की आजमाइश करने के लिए तो होता नहीं! ऐसे भीषण समय में भी किसान को विश्राम बदा नहीं है। उसे अपने खेत से पानी निकालने से रोकना है। इसी में उसका

कल्याण है। यही उसकी चातुरी है। तुलसी दास ने भी तो इसी-लिए कहा :—

'कृषी निरावहिं चतुर किसान'

पर दुनिया को क्या पता कि यह चतुराई करने के लिए किसान को अपने सुखों का किस प्रकार वलिदान करना पड़ता है।

गर्मी, वर्षा और शीत से बचने के लिए मानव ने घर बनाए। इससे प्रकृति के भीषण उपद्रवों से उसे त्राण मिलता है। इस किसान के भाग्य में उसका सुख भी बदा नहीं। यह शरीर से इस वीसवीं शताब्दी में है परन्तु अपने जीवन के कई महत्त्व पूर्ण कार्य की दृष्टि से वह उस युग में है जिसमें घर का अविष्कार नहीं हुआ था। मनुष्य छाती खोल कर प्रकृति के सारे झोंकों को झेलता था। फिर ऐसा भाग्य कि कुंआ, बैल, पानी और मिट्टी का अहर्निश साहचर्य। अवश्य ही इस ससर्ग में "जीवन की तरी" है और आनन्द की भूमिका है परन्तु किसान की शिक्षादि की न्यूनता इस अनन्दोय भोग से सहज ही वंचित कर देती है। बैल के साथ वह स्वयं भी बैल हो जाता है। उनका जीवन माटी हो जाता है। परिश्रम उसका अन्धकूप हो जाता है। सुख उसका निर्गुण भगवान हो जाता है। वह गूगें के के गुड़ का भाँति जब तब मन में उसका अनुभव भर कर लेता है

प्रश्न यह उठता है कि आखिर किसान इतना परिश्रम क्यों करता है? क्या इस लिए कि उसे अच्छे से अच्छा, सु स्वाद, पुष्टिकर और आनन्द दायक भोजन मिल सके? क्या इसलिए कि वह सुन्दर हवादार और स्वास्थबर्द्धक गृह में निवास कर सके? क्या इसलिए कि उसके परिवार के अन्य सदस्य शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें? उसके बच्चे प्राप्त कर सके? बन्धुबान्धवों में उसका आदर सत्कार हो अथवा कभी समाज में सिर निचा न हो? क्या इसलिए कि देश जाति और

प्राणि मात्र उसका अर्जित अन्न ग्रहण कर जीवन लाभ कर सकेंगे ? अथवा इसलिए कि साधु और भिखारी एवम् अतिथि का समुचित समादर कर सकें ? क्या वह यह सोच विचार कर श्रम करता है कि यह उसका कर्तव्य है ? अथवा ये सब बातें उसके समक्ष उपस्थित होती हैं ?

देखने में तो ये बातें ऐसी हैं कि सब का उत्तर स्वीकारात्मक ही होगा परन्तु यदि हम सचमुच किसी किसान से पूछे तो बड़े अचरज में पड़ जायेंगे। वह सब से पहला उत्तर देगा कि "इज्जत आबरू है और देन महाजन है!" शेष बातें गौण हैं। मुख्य है किसान की इज्जत और ऋण! इन्हीं के लिए वह पसीना बहाता है। भूखा रह सकता है। घर-वस्त्र का कष्ट सह सकता है। अपने बच्चों की महत्व पूर्ण शिक्षा रोक सकता है पर अपनी नाक नहीं कटा सकता। अपना मिथ्या मर्यादा खो नहीं सकता। इसके लिए वह ऋण भी लेता है। यह मर्यादा ऋण जीवन का सारा श्रम हो जाता है। मर्यादा और ऋण में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है यह अगले अध्याय में बतायेंगे। यहाँ केवल इतना लिखना है कि किसान यह कठिन श्रम ऋण चुकाने के लिए करता है। गाँव में किसान प्रायः ९५ प्रतिशत ऐसे हैं जो ऋण ग्रस्त हैं। ऋण चक्र से उनका पिण्ड नहीं छूटता। भूत की तरह यह अन्तिम दम तक साथ नहीं छोड़ता, यह पुश्तैनी चला करता है। यही दुख की जड़ है। अपनी नाक न कट जाय इस प्रयत्न में किसान ऋण लेता है। अन्ततोगत्वा उसकी नाक की रक्षा हो नहीं पाती आसमान से गिरा तो खजूर पर अटका। प्रतिवर्ष यह रक्तबीज की तरह बढ़ता चला जाता है। मान लीजिए इस वर्ष फसल अच्छी आई। कहीं गेहूँ के क्षेत्र लहर रहे हैं, कहीं चना-ऊमड़ आया है, कहीं ईख आकाश चूम रही है। इन्हें किसान हसरत भरी निगाह से देखता है। उसे देखता है। उसे आशा होती है कि इस वर्ष वह ऋण चुका देगा। उसके अच्छे

दिन आ गए। अगले वर्ष से न ऊधोका का लेना और न माधो का देना रह जायगा। चैन से दिन कटेंगे।

प्रथम तो नाना प्रकार के विघ्न है। हवा है, पानी है और आग है। पशु हैं, पक्षी हैं और अन्य जीव हैं। चोर हैं, चाई है और लुटेरे हैं। सबसे बचाता बचता यदि सारा अनाज घर पहुँचता है तो वह ऋण चुकाने भर को तो होता ही है। सब स्वहा! मान लीजिए कि यदि कुछ बचा तो वह दो एक महीने में समाप्त हो गया। लगान है, भोजन है, बीज है, कपड़ा लत्ता है, तमाखु है, कहीं शादी—व्याह पड़ जाय तब तो हुआ वज्रपात! इस प्रकार चौथे पांचवें महीने में विवश हो उसी पुराने ऋण वाले पथ पर किसान को चलना पड़ता है। उसे पुनः ऋण लेना पड़ता है यदि ऐसी बात हो कि वह जितना लेता है उतना ही देना पड़े तब भी खैरियत होती। ऋण प्रगति शील होता है। उसका गति शीलता के आगे किसान का श्रम गति शून्य हो जाता है। यह ऋण कभी कभी तो दूना चौगुना यहाँ तक कि बीस गुना-तीस गुना हो जाता है। घुरहू के बाप के बापने कौड़ी मल से ३० रूपया लिया और आज वह तीन सौ हो गया, घुरहू के लड़के तक पहुँच कर वह ५०० हो जाय तो अचरज नहीं। चुकावें न? सारे जीवन को ऋण के बादल अच्छादित कर के एक दम धुँआधार कर देते हैं। इस प्रकार यह ऋण चक्र अनवरत गति से चलता रहता है।

गाँवों में कुछ ऐसे लोग होते हैं जिन्हें वहाँ के लोग धनी कहते हैं। वे धनी होते भी हैं बैलों का एक भरा पूरा स्वस्थ झुण्ड द्वार के सम्मुख, पशुशाला के पार्श्व में दृष्टि गोचर होगा। अन्न की खत्तियाँ, बखारें भरी पड़ी हैं। कार्य व्यस्त—छाँटी काटते, बैल खिलाते, गोबर हटाते, गाय दूहते, सफाई करते या बैठ कर गप करते अथवा हुक्का गुड़गुड़ाते स्वजन दिखाई पड़ते हैं। पुरजन, परिजन एवम् सेवक द्वार पर घेरे रहते है। इस प्रकार इन्हें धनी कहना असंगत तो नहीं है पर है संकुचित

कई कारणों से ये गँवई के धनी ग़रीबों से भी ग़रीब होते हैं। ये दिखावे के धनो हैं। वास्तव में इन में से अधिकांश श्री हीन होते हैं। इनका श्रम अपनी उस दिखाऊ स्थिति को बनाए रखने में व्यय होता है भीतर से लेकर बाहर तक जो कुछ भी है; सब दिखाऊपन का आदर्श है। धन का उपयोग या तो ये करते नहीं या करने नहीं आता। रंडी-भाँड़ के नाम पर हजारों रुपये का खून कर देंगे। इसलिए किसान की इज्जत की और नाम की रक्षा एवम् वृद्धि हो परन्तु पाठशाला, पुस्तकालय के नाम पर एक पैसा नहीं देंगे। इनका ख्याल होता है कि कचहरी-सेवन, मुकदमा बाजी उनकी शोभा है। अकारण भी वे लड़ते हैं। अपना बड़प्पन प्रदर्शित करने के लिए लड़ते हैं। न्याय के लिए नहीं, अन्याय का आतंक जमाने के लिए लड़ते हैं। यदि रुपया उनके पास है तो कानून को अपने पास ही समझते हैं। अपनी स्थिति की रक्षा के लिए कानून की आड़ में रुपया पानी की तरह बहाकर छोटे लोगों की गरीबी से जर्जर छाती पर घुड़दौड़ करने की हविस रखते हैं और समय-समय पर निकालते भी हैं। कहने का तात्पर्य यह कि आज गरीब अपनी गरीबी में पिस रहे हैं और अमीर अपनी अमीरी में जल रहे हैं। वे अपनी तमाम समानता को उसकी रक्षा में योजित कर देते हैं।

इतिहास गाँव के धनिकों का बड़ा विचित्र होता है। ये बहुत दिनों के नहीं, हाल के अधिकतर होते हैं। पुश्तैनी कम किन्तु उन्हीं गरीबों में से अधिकतर होते हैं। इनके धनी होने का इतिहास मनोरंजक भी कम नहीं होता। गाँवों के अधिकांश धनी सूद-ब्याज का मायाजाल फैलाकर आलसी एवम् भूखे किसानों का खेत हड़प कर होते हैं। दूसरे धनी कंजूसी से होते हैं। नमक चाट कर पैसा जोड़ना प्रसिद्ध है। कभी-कभी पैसे से पैसा खींचकर लोग धनी हो जाते हैं। कितने को 'भाग्य' ही धनी नाम से विभूषित कर देती है। किसी की शादी धनी बना देती

है। किसी का कुटुम्ब समाप्त हो गया तो वह धनी हो गया। इसी प्रकार की अनेक बातें हैं। इसी सिलसिले में यह बता देना भी अप्रासांगिक न होगा कि "जहाँ रूख न बिरिछ, तहाँ रेंड़ परधान" वाले न्याय के अनुसार गाँवों मे जिनके पास चार हजार-छः हजार रुपए हो गए उनकी गणना धनी लोगों में होने लगती है।

किसानों के गाँव में कोई धनी-गरीब क्या होगा? पैदा करेंगे, खायेंगे। खेत हैं, बारी हैं, बैल हैं और परिश्रम है। उस खेत में खाने भर से अधिक थोड़े पैदा होता है! वहाँ मिलों या खादानों की तरह सम्पत्ति की वर्षा नहीं होती। ऐसी दशा में गाँव के किसी खेतिहर को धनी कहना असंगत है। जो तिकड़म से दूसरों की जमीन हथिया लेते हैं, धनी कहला कर शान बघारने की जिन्हें प्रबल लालसा होती है, उन्हें क्या पता कि यह युग बैलगाड़ी का नहीं वायुयान का है। जिसकी कीमत में वे बिक जायेंगे। धनकुबेरता ने बैलगाड़ी से चलकर विमान तक आते-आते जो रंग दिखाया है उससे अपरिचित ये मुट्ठी भर गाँव के गर्वीले किसान छोटे-छोटे लोगों से घिरे रहने के अनुभव से एक प्रकार के सुख का अनुभव करते हैं। जैसा कि कहा गया है ये धन का उपभोग करते भी नहीं। ऐसा करने लगें तब तो शायद धरातल ही खिसक जाय और औरों की भाँति ये भी 'सामान्य' किसान हो जायँ! उनके बडप्पन की पगड़ी वास्तविक पगड़ी नहीं होती। वह दिखाउ होती है। उसका सारा प्रभाव उसकी रक्षा में व्यय होता है, सिर की रक्षा में नहीं। यदि उस पगड़ी को हवा में उड़ जाने दिया जाय तो गरीबों की भाँति उनका सिर भी नंगा ही होता।

जीवन भर कठिन संघर्ष करने के पश्चात् जीवन के संध्याकाल में जब कि शरीर थककर चकनाचूर हो जाता है, सारे व्यवहारों का खाता बन्द होता है, गाँव वाले गहरा असन्तोष लिए मरते दिखाई पड़ते हैं। जीवन भर 'महल' की आशा में कंकड़ा चुनते हैं। 'अब अच्छे दिन

आ रहे हैं' की मृगमरीचिका में संकट झेल कर, गरीबी की मार सहन कर एवम् अभाव की आग में जल कर भी वे आगे बढ़ते जाते हैं। अपनी गृहस्थी की नींव सुदृढ़ करने के लिए भोजन पान तक विस्मृत कर दमतोड़ मिहनत किए जाते हैं। इतने पर भी अन्त समय अपने को जहाँ का तहाँ, एकदम वहीं जहाँ पहले थे, बल्कि उससे भी गई गुजरी दशा में पाते हैं तो कलेजे पर साँप लोट जाता है। ऐसी दशा में वे क्या शांति पूर्वक मरें ? दरिद्रता का शूल मरणसेज पर टीसता रहता है। जब मौत की छाया सिर पर मँडराती है तब भी उन्हें घर की चिन्ता चबाए जाती है। गाँव के रहने वाले लोगों में से किन-किन लोगों ने जीवन की फिसलन से भरी डगर पर उन्हें धक्के दिए, यह सब याद है। वे बड़े प्रेम से अपने बेटों को उक्त लोगों से बचे रहने की शिक्षा देते हैं। जीवन भर घर का प्रबन्ध किया, मन नहीं भरा। अब अन्त समय में भी कुछ आगे का प्रबन्ध कर जाना चाहते हैं। अधिकांश अपने उत्तराधिकारियों को यह शिक्षा देते पाए जाते हैं कि हमारे क्रिया-कर्म में अधिक व्यय मत करना ! कोई अपने अधूरे छोड़े काम, अधूरी मुकदमा अथवा सिर पर भार की तरह पड़े ऋण का स्मरण करते-करते प्राण विसर्जित करते हैं। मरने के पूर्व इन बूढ़ों को पागल की उपाधि तो मिल ही जाती है ! वे बहुत बकबक करते हैं। बैठे-बैठे प्रबन्ध बाँधा करते हैं। अवश्य ही उनकी बातें जवानों को पसन्द नहीं आतीं परन्तु यह इस बात का प्रमाण है कि जीवन में वे पूर्ण असफल रहे। अपनी शक्ति भर जीवन को सँवारते रहे। थकने पर अपने वारिसों से भी वही आशा रखते हैं। उन्हें क्या पता कि यह तो एक चक्र-सा लगा है। इनमें सफल होना खेल नहीं है।

गाँव का हर प्राणी आज परिश्रम भर करता है। उसके श्रम का सुख भोगने वाला वह नहीं, कोई दूसरा है। वह मर-मर कर स्वर्ग बनाने भर के लिए है। उसके लिए स्थान नरक ही है। उस नरक में

दरिद्रता है, गन्दगी है और है लाचारी के साथ सुख की मृग-तृष्णा। वहाँ वे गरीबी की साधना करते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि मृत्यु ही जाने-अनजाने उनका साध्य होती है। जीवन से तो वे ऊब गये होते हैं। "वे जीते इसलिए हैं कि मर नहीं जाते।" पग-पग पर मौत की कामना करते हैं। स्त्रियाँ धरती माता के फटने की कामना करती हैं। उनकी दुर्दशा देखकर वह भी द्रवित नहीं होती। साधारण बातचीत में भी लोग कहते सुने जाते हैं कि "अब कट चली है जिन्दगी।" अथवा "अब तो मौत आवे और ले चले इस दुनिया से। सारी झंझटों से छुट्टी मिले।" किसी प्रकार जीवन का छोर खींचकर, अंचल समेट कर मौत की गोद में जाने के लिए वे मचलते हैं। गरीबी की साधना और मृत्यु की ऐसी कामना यह आज के हमारे गाँवों की विशेषता हो गई है। कितनों पर मौत भी रूठ जाती है। जीवन का भार लिये आठ-आठ आँसू रोते हैं। कोई पानी के लिए भी पूछने वाला नहीं और उधर विधाता के रजिस्टर का जैसे पन्ना ही उलट गया। बही भूल गई जो परवाना ही नही कट रही है। 'उस दर-बार' से बुलाहट ही नहीं आती।

गाँवों के सुनहरे अँचल में, जिसकी प्रशंसा में कवियों ने न जाने कितनी स्याही बहा दी, यह कैसा दुभिक्ष का ताण्डव चल रहा है? मानवता के पतन की पाराकाष्ठा है जो किसान की शोषण से जर्जरित ठठरियों पर भी स्वान समूह कृपा नहीं करता है। सारी सुख-सुविधा समेट कर कब तक मुट्ठी भर लोग इन भोले-भाले मानवों को जीने अधिकार से वंचित किए रहेंगे?

न केवल किसान अपितु ग्रामीण मात्र ऐसे ही असफल जीवन के भार से कराहते रहते हैं। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि अन्य वर्ग के लोग गाँवों में किसान के ऊपर ही अवलम्बित रहते हैं। वह गाँव का ऐसा केन्द्र है जिसके चतुर्दिक जीवन चक्कर काटा करता है। उसका

उत्थान—पतन गाँव का उत्थान पतन है। अन्य देशों वालों को किसान से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। तेली का कोल्हू किसान के सरसों से चलता है। जिस वर्ष तेलहन की पैदावार नहीं होती, कोल्हू बन्द हो जाता है। गाँव के गरीब तेली के पास इतना धन नहीं कि बाजार से तेलहन खरीद कर लाए। वह किसान से तेलहन लेता है। कुछ मजदूरी लेकर तेल निकालता है। तेल किसान का और खली तेली की। इस प्रकार का पारस्परिक व्यवहार चलता है। दर्जी, नाई, चमार, पंडित, महंथ, कुम्हार और धोबी सेवाओं से ये किसान के सम्बन्धी हैं। आवश्यक वस्तुओं, परामर्शों एवम् सेवाओं से ये किसान की सहायता करते हैं। इनके भरण-पोषण का भार किसान के ऊपर होता है। यही सनातन व्यवस्था है। गाँव एक प्रकार से स्वावलम्बी एवम् अपने में पूर्ण होते हैं। आज कल यह स्वावलम्बन की कड़ी, अपने पैर पर खड़ा होने की योग्यता छीजने लगी है। गाँव का जुलाहा समाप्त हो गया। जीवन सबसे उपयोगी वस्तु कपड़ों के लिए किसान पर मुखापेक्षी हो गया। उसका अन्न बिकने लगा। उसके दोहन का द्वार खुल गया। यद्यपि जुलाहे गाँवों में अब भी हैं पर उनके व्यापार का हाथ कट गया! उनकी कला में जङ्ग लग गयी। वे किसानों की समस्त वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सर्वथा अक्षम हैं। इस गरीब जाति के ऊपर विदेशियों का बज्र-प्रहार प्राणान्तक सिद्ध हुआ। मिलों में वस्त्र नहीं भारतीय जुलाहों की हड्डियों के तार बुने जाते हैं। आज सबसे गरीब, निःसहाय और सामूहिक शोषण से प्रत्यक्ष आक्रान्त जाति यदि कोई जाति है तो वह जुलाहा। जिसकी हस्तकला का सिक्का कभी एशिया-योरप पर था, वही आज दाने-दाने को तरस रही है। अब ऐसे ही काल की कलम सुनार और तेली जाति पर भी धूम रही है जिसकी चर्चा आगे करेंगे।

अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् भारत मुर्झा गया। गाँवों का सर्वतो-

मुखी पतन हो गया। किसान उजड़ गए। उनकी खेती मारी गई। खेती पर पलने वाले अन्य लोग विपद्-जाल में फँस कर छटपटाने लगे। सुनने में यह बात अचरज सी लगती है कि गाँवों की अधिकांश जनता एक जून खाकर ही रह जाती है। दो-तीन जून किसी को अन्न के दर्शन ही नहीं होते। विरले भाग्यवान हैं जो दोनों समय उत्तम भोजन पाते हैं। कितने परिवारों में उपवास का दौर वैसे ही चलता है जैसे धन कुबेरों के यहाँ शराब का। अन्तर इतना ही होता है कि एक में "हाय-हाय" की मूक वेदना होती है और दूसरे में "हा-हा-हा-हा" का मुखर उल्लास होता है। नशा दोनों में होता है। दोनों में बेहोशी होती है। एक में सो-सो कर जाग-जाग उठते हैं और दूसरे में जाग-जाग कर सो-सो उठते हैं।

अर्द्धरात्रि में किसी गरीब का बच्चा चीख उठता है। "माँ खाना दो।" कलेजा मुँह को आ जाता है। यह सर्वग्रासी काल की महा-विभीषिका! जिस प्रदेश में शस्यश्यामला धरित्री अपना अतुल वैभव लिए सूर्य-चन्द्र की किरणों से अठखेलियाँ करती है उसी प्रदेश के अंचल की झोंपड़ियों में भग्न मानव दाने-दाने को तरस कर मानवता का उपहास कर रहा है। गाँव की यह भयानक गरीबी दुनिया की आंखों से ओझल है। यह इतनी आन्तरिक है कि लोग देखकर भी नहीं देख पाते।

विशाल व्योम के नीचे मुक्त-अर्गला विश्ववैभव गाँव के बाहर खेतोंमें पड़ा है। भीतर उसके स्वामी उसके उपभोग से सर्वथा वंचित कभी भाग्य को कोसते हैं, कभी दुर्दैव को। दोनों के बीच में श्रम है। वह भी जब अपने 'कर्ता' को पूर्ण प्रतिफल प्राप्त कराने में असमर्थ रह जाता है, तब कराहने लगता है और दामन सिकोड़कर एक ओर पड़ रहता है। यहीं से गाँवों आलस का श्रीगणेश होता है। इस आलस्य के साथ इसके कुछ अन्य सजातीय भी सरक कर बढ़ आते हैं। अहमन्यता, बुद्धिहीनता,

अन्धविश्वास, असफल सन्तोष और गरीबी। दुर्भाग्य का पूरा कुनबा एकत्र हो जाता है। सबसे खेदजनक बात यह होती है कि आगे बढ़ने की, नवीनता ग्रहण करने की और कुछ सीखने तथा जानने की प्रवृत्ति मारी जाती है। अपने को वे पूर्ण समझने लगते हैं। यहाँ तक की एक संकुचित घेरे में, एक संकुचित दिनचर्या वाले महान समझे जाने लगते हैं। गाँवों के भीतर आदमी नामधारी ऐसे जीव भी अभी विद्यमान हैं जो जीवन के पिछले पहर में पहुँच कर भी रेल नहीं देख सके। इसे संसार का आठवाँ आश्चर्य कहा जाय तो असत्य नहीं होगा। उनका सारा जीवन अपने घर के किले में कैद जैसे बीत गया। उन्होंने सारे जीवन केवल अपने को देखा। दूसरे कैसे हैं, यह नहीं जाना। दूसरों को देखकर जो सीखने की प्रवृत्ति होती है, उसका उनके जीवन में कोई चमत्कार उत्पन्न नहीं हुआ। बाहर निकलने पर संसार का जो अनुभव होता है उसके सहारे व्यक्ति जो अपना तथा समाज का सुधार करता है, वह संयोग उनके जीवन में कभी संघटित न हो सका। गुल्लर का किरौना सचमुच बन्धन में होता है पर मानव तो स्वतंत्र जन्म लेता है। वह यदि आजीवन कूप मंडूक ही बना रह गया तो यह उसका दुर्भाग्य कहा जाय या और कुछ ! वह समाज का द्रोही है। वह सन्तानों के सामने गलत आदर्श उपस्थित करता है। संकुचित घेरे में अपने को पूर्ण समझने की महान भूल हमारे देश ने कभी की और बाह्य विश्व के ज्ञान-विज्ञान को हेय दृष्टि से देखा, जिसका परिणाम कितना भयंकर हुआ ! ज्ञान-विज्ञान की दौड़ में भारत पिछड़ गया। इस ऊँचे पैमाने की 'बड़ी बात' के पेट में गाँवों का अन्धजीवन कराह रहा है। न जाने कब उसे नव-जीवन मिलेगा। यहाँ न कोई आदर्श है न व्यवहार। यहाँ सब योंही अपने आप होता है। यहाँ व्यक्ति के जीवन लक्ष्य भ्रष्ट आदर्श हैं। बाप-दादे से होते आए काम ही ध्रुवतारे हैं। ऐसी गतानुगतिकता उन्नति पथ पर पाश्चात्पद रखे तो क्या आश्चर्य !

गाँव का एक आदमी बड़े गर्व से अपना परिचय देता है कि मैं अपने काम से मतलब रखता हूँ। दूसरों के फेर में नहीं पड़ता। यहाँ तक कि अपना दरवाजा छोड़कर कहीं नहीं जाता। बारात, सभा, जलसा, उत्सव, नृत्य, गान और तमाशा में आप कहीं नहीं पायेंगे। दूसरे गाँव तो मैं बहुत ही कम जाता हूँ। क्या मतलब है हमें कहीं जाने से ? बस अपना काम है। गंगा स्नान करता हूँ। चार अंजलि जल ग्रहण करता हुँ। भगवान का नाम लेता हूँ। अपना काम करता हूँ। शाम को चार दोहा रामायण कहता हूँ और सो जाता हूँ।

ऐसी व्यक्ति के बारे में क्या कहा जाय ? जमाने से दो हजार वर्ष पहले हैं। स्वराज्य हो जाने पर भी जो वर्षों तक समझते रहे कि 'अंगरेज बहादुर' का राज है। कितने अभी 'कोपनी' (इस्ट इण्डिया कम्पनी) के राज्य के ख्याल में हैं। ये वह आचार्य हैं जो कूप माण्डूक्य की शिक्षा अपने विचार तथा कार्य से दिया करते हैं। गाँव की कोमल बुद्धि वाली मण्डली ऐसे व्यक्तियों से क्या सीखेगी ? उन पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इसी विघातक सिधाई और सरलता ने दूसरों को अवसर दिया कि उन्हें लूटें। इसी संकुचितता ने उन्हें दुनिया के वैभव से से हीन कर दिया। इसी पार्थक्य ने उन्हें 'बैल' बना दिया। इसी साधुता के चोले में कसी पंगु नैतिकता ने उन्हें दुख-भोग का छत्रधारी बना दिया।

दुनिया से अलग रहने की मनोवृत्ति ने गाँव वालों को बतिहीन कर दिया। उनमें राष्ट्रीय उत्कर्ष की कामना का पूर्णतः तिरोभाग हो गया। अधिक से अधिक किसी प्रकार स्वयं धनी हो जाने की बात वे सोचते हैं। इस सोच में भी 'भुजबल' कम पर 'दैवबल' का अधिक आश्रय होता है। नैतिक पतन की पराकाष्ठा है कि बिना हाथ पैर हिलाए निर्लज्जता पूर्वक किसी का सर्वस्व उन्हें प्राप्त हो जाय' तो स्वीकार करने में अहोभाग्य समझें। इस प्राकर की पतनशील अन्तर्भावना का परि-

णाम यह होता है कि वे आजीवन खाली हाथ रह जाते हैं। अतृप्त इच्छाओं की प्रचण्ड ज्वाला में दग्ध होते रहते हैं। छोटी-मोटी वस्तुओं के लिए भी तरसते दिन जाता है। स्वच्छन्दता पूर्वक हाथ-पैर पसारने भर को पृष्ठाधार नहीं उपलब्ध होता। सारा श्रम किसी सर्वग्रासी भविष्य के चरणों में समर्पित करने के पश्चात् भी वे सुख की नींद नहीं सोते। सब कुछ जुटाकर भी खाली रह जाते हैं। उनका अभाव, उनकी वेदना तथा उनका दुर्भाग्य सदा छाया की भाँति साथ लगा रहता है। उसे वे ईश्वर की देन समझते हैं। इसीलिए कलेजे से चिपकाये रहते हैं। सन्तोष इस बात का रहता है कि अपने पूर्वजों को भी उन्होंने ऐसा ही फले हाल देखा। उन्हें क्या पता कि प्रति क्षण विश्व किस गति से आगे बढ़ता जा रहा है तथा उसी अनुपात से वे कितने पीछे सरकते जाते हैं। उनकी सन्ताने भी घुटनशील परिस्थिति में जीवन यापन की शिक्षा लेते हैं। उनका ख्याल होता है कि ऐसे ही में पीढ़ियाँ गल गईं। इसी में कल्याण है। बाप-दादों की वृत्ति है। उसकी विचारशैली छिद्रहीन वह लौह कन्दुक है। जिसमें वायु का संचरण सर्वथा असम्भव है।

एक कठिनाई यह है कि हमारे ग्रामीण किसान दो एक पीढ़ी से ऊपर की बात सोचते ही नहीं। इसलिए उनके सामने उत्त जीवन का कोई आदर्श नहीं होता। इतिहास की यही तो महत्ता है कि वह हमारी पतन शील जीवन प्रणाली पर अंकुश रखती है। गौरवमय अतीत का चित्रफलक लिए सदा सन्मार्ग दिखाती रहती है उन्नत जीवनदर्श का तो वह प्रकाशस्तम्भ ही है। ग्रामीणों का अशिक्षाजन्य अज्ञान उन्हें इतिहास की बातों से सदा अनभिज्ञ रखता है। वे रामायण-महाभारत के किस्से जानते हैं। उनकी कथाओं में रस लेते हैं मगर वह तो उनकी समझ में भगवान की लीला है। उस अयोध्या के राजवंश का हाल वे भक्ति के लिए पढ़ते हैं। इतिहास के नाम पर बे केवल अपने बाप और अधिक

दादे-परदादे तक की बातें जन श्रुति की परम्परा से चली आती हुई जानते हैं। यह क्षुद्र परम्परित ज्ञान उन्हें क्या सिखायेगा ? कौन सी प्रेरणा देगा ? वे भी तो हमारी उसी पतन प्राप्त ऐतिहासिक युग की देन थे जिसमें विदेशियों की अबाध लूट जारी थी और भारतीय ग्राम ण दरिद्रता का आच्छादन बलात् चढ़ा दिया गया था। उनके अंचल का अतीत तो आज से भी अधिक मलिन और विषाक्त है। आज से एक हजार वर्ष पूर्व भी उनका दृष्टि जाती तो वे अपने को देख पाते और देखते कि विश्व में उनका अस्थान क्या था ? भारतीय ग्राम के कैसे आदर्श थे ? भारत सोने की चिड़िया किस लिए कहा जाता था। ग्रामों का आशीर्वाद जीवन में सुगन्ध बिखेरता रहता था। आज जैसे नगरों की माया में उनका चीर हरण नहीं होता था। ग्रामीण पुरुष दूध के कुल्ले करते थे। स्त्रियां वास्तव में "दूधों नहातीं और पूतों फलतीं थीं अन्न और वस्त्र की आज जैसे समयाएँ अकल्पित थीं। ज्ञान और विचार का प्रकाश झोंपड़ियों से विकीर्ण होता था। न्याय और सुशासन था। राष्ट्र की महत्वपूर्ण इकाई के रूप में गाँव सुगठित, ठोस, सम्पन्न एवम् पूर्ण थे। तब से विदेशियों की निरन्तर चपेट ने, कुछ अपनी अज्ञानता हुए मुस्कराते चेहरे को झुलस दिया। जीतीय या राष्ट्रीय चेतना विलुप्त हो हो गई। संकुचित परिधि में उद्देश्य हीन जावन श्रम का भारवाही बन गया।

"रस्सी जल गई मगर ऐंठन नहीं गई"

एक कहावत है, 'रस्सी जल गई मगर ऐंठन नहीं गई।' ठीक यही दशा ग्रामवासियों की है। वे विपन्न हैं किन्तु सम्पन्नों से भी अधिक ऐंठ में रहते हैं। भोजन, गृह और वस्त्र की कठिनाइयों ने उनके जीवन को जर्जर कर दिया किन्तु वे किसी उद्योग की शिक्षा ग्रहण करने को तैयार नहीं। उनके जीवन की सीमा रेखाएँ यद्यपि अत्यन्त छोटी छोटी हैं, तो भी उससे बाहर वे कुछ समझते ही नहीं। यह उनका अज्ञान है, फिर भी इस पर उन्हें गर्व है। वे अपने को बड़ा समझते हैं। अपनी हीनता को भरसक छिपाने का प्रयत्न करते हैं। अपनी गरीबी पर परदा डालते हैं। वे अपने को वैसा दिखाने का प्रयत्न करते हैं जैसा वास्तव में वे होते नहीं! इसी प्रयत्न के फलस्वरूप वे लुट जाते हैं। गरीब की गरीबी उसका काल होती है। जो उसे बाहर-भीतर स्वीकार कर लेता है वह सुधर जाता है। जो भीतर गरीबी से लड़ता है और बाहर लम्बी-लम्बी बातें करता है वह कालन्तर में उस मेढ़क की भाँति नष्ट हो जाता है जो पेट फुलाकर बैल के बराबर होने का दुस्साहस करके प्राण से हाथ धो बैठा। न केवल आर्थिक क्षेत्र में बल्कि शिक्षा, कला, स्वास्थ्य और नैतिकक्षेत्र में ग्रामवासियों की दशा शोचनीय है। वे अपने क्षुद्र विश्व में इतने चिपटे हैं कि नए युग के किसी सन्देश से प्रभावित नहीं होते। उन्हें सुख है, यह कोई दावे के साथ नहीं कह सकता। पग-पग पर अड़चनें और उलझनें हैं, रुकावटें हैं। उनके स्वास्थ्य का स्तर गिर गया

है। वे कीचड़ और गन्दगी के केन्द्र हो गए हैं। निर्धनता ने उन्हें मानव भी नहीं रहने दिया। बुरे संस्कारों ने सतत् उन्हें अभागा भी कर दिया फिर भी इसे वे स्वीकार नहीं करेंगे। उनका ख्याल है कि वे बड़े अच्छे हैं। एनकेनप्रकारेण दो सूखी रोटियाँ और गज भर वस्त्र उन्हें मिलना चाहिए फिर वे अपनी झोंपड़ी में चैन की वंशी बजा लेंगे। उन्हें क्या पता कि आज चैन की वंशी ऐसे नहीं बजती। आज जब वह शिक्षा न रही, वे संस्कार न रहे और मनस्तुष्टि का वह स्तर ही नहीं रह गया जब मानव झोंपड़ी में भी महल से अधिक आनन्द का अनुभव कर लेता था। तब त्याग था, तपस्या थी और आज योग है, लिप्सा है। अंगूर को खट्टा कहकर छोड़ देना और बात है और प्राप्त कर छोड़ देना और बात। गाँव वालों के पैसे से शहरों में महल तैयार हो गए। यह जानते हुए भी कब तक वे सन्तोष के साथ कलेजे पर पत्थर रखकर अपने आप से समझौता करते चलेंगे। इस प्रवंचना की आग उनके दिल में जलती रहेगी। जिन थोड़े से जीवों ने उन्हें जीने से लाचार कर दिया, देर-सबेर वे उन्हें जान ही जायेंगे। जब गाँव वाले अपनी सीमित परिधि, अपने मिथ्या दम्भ, अहमन्यता जन्य संकुचित और कूप-मण्डूकता से बाहर निकलेंगे तो वे देखेंगे कि उनके जानने योग्य बहुत सी बातें हैं जिनके अज्ञान ने उन्हें कीड़े-मकोड़े की तरह घिनौना बना दिया। वे सबसे महान हो सकते थे पर न बन सके। वे सबके मालिक हो सकते थे परन्तु वैसा भाग्य न हो सका। अक्षय सम्पत्ति के भाण्डार के स्वामी होकर भी टुकड़े-टुकड़े के मंगन हो गये। उनकी कुछ दुर्बलताएँ ही उन्हें इस हीनावस्था में लाकर पटक देती हैं। उनके जीवन का प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। उस बद्ध-जीवन की सड़ान्ध सारे सामाजिक जीवन को रोग-ग्रस्त कर रही है। किसान की जलती झोंपड़ी पर हाथ सेंकने वाले ग्रामीण भी हैं पर हैं वे भी सुखी नहीं। समाज में गर्व और छल-कपट का वातावरण उत्पन्न हो जाने पर सबका चैन चिता पर चढ़ जाता

हैं। शोषित नरक में होते हैं जहाँ से उत्थान की सम्भावना होती है पर शोषक तो उस ज्वालामुखी पर होते हैं जिनके फूटने पर सर्वनाश निश्चित ही होता है। इन सब बातों को किसान समझे और अपनी शेखी, शान तथा [illegible] की ऐंठ का परित्याग कर दे। यह उनके उत्थान का प्रथम मार्ग है।

हमारे सामने दो परिवारों का उदाहरण है। एक परिवार में एक पिता, एक उसका पुत्र तथा पुत्र-बधू ये कुल तीन प्राणी हैं। पच्चीस बीघा जमीन है। दो बैल हैं। किसी प्रकार काम चल रहा है। खाने को दो रोटियाँ मिल जाती हैं। पिता परिश्रमी है परन्तु वृद्ध हो गया है। पुत्र को उसने लाड़चाव से पाला-पोसा है। वह जवानी की उमंग में पिता को कुछ नहीं समझता। ग्रामीण-जीवन ठहरा। कहाँ ऐश-आराम से रहना नसीब में बदा है? पुत्र बड़े आदमियों जैसे दिन भर बैठा रहता है। घूमता है और ताश बड़े प्रेम से फेंकता है। कपड़े शरीर और बाल के बनाने सँवारने में विशेष समय देता है। उसके बैलों को ठीक समय पर चारा नहीं मिलता। वे कातिक में टाँग पसार कर हराई पर पड़ रहे हैं। पिता से जब-तब दो-दो चोंचे हुआ करती हैं। ज्यों-ज्यों उसकी आवारा-गर्दी बढ़ती जाती है। उसके कपड़े चमकीले होते हैं। किसानी में तो बड़ा धूल-धक्कड़ है, गोली मारो ऐसे पेशे को! खाओ-पिओ मौज करो। इन सबका नतीजा क्या होगा? खेत पैदावार नहीं देते। उनमें पसीना तो गिरता नहीं, मोती उगे कैसे? चैत में ऋण का प्रथम अध्याय प्रारम्भ हो जाता है। साल भर 'ऋणं-कृत्वा घृतं पीवेत' की उक्ति चरितार्थ होती है। दो-तीन वर्ष में सारी जमीन रेहन-पट्टे में चली जाती है। पिता सिर धुनता है। स्त्री भाग्य को रोती है। पुत्र के कान में जूँ नहीं रेंगती। कुछ नहीं है तो क्या? जमींदार का लड़का है। मेहनत मजूरी कौन करे? भाग्य में यही बदा है। श्रम का सहारा और आत्मीयता का सहलाव न पाकर घर पर भी

जवाब दे देते हैं। वह कोई मजदूर थोड़े हैं जो घर बनावे? पैसे के अभाव में कोई मजदूर कहाँ है? फिर वही संगी-साथी। आश्चर्य यह कि ऐसे संगी-साथी भी होते हैं। वे भी उसे इस बरबादी से नहीं रोकते।

गाँव का वातावण कुछ ऐसा है कि यहाँ एक बार पाँव फिसला तो पुनः सँभलना मुश्किल है। यहां शरीर श्रम का महत्व है। यहां बैठे बैठे खाने वाले और आराम की जिन्दगी बिताने की लालसा रखने वाले टिक नहीं सकते। यहां कोई बरबादी की ओर जा रहा है तो उसे समझाने वाले भी नहीं हैं। उसे और आग में ढकलने वाले, अपना उल्लू सीधा करने वाले अवश्य हैं। व्यवसाय भी गाँव का ऐसा है कि उसमें सतत् श्रम अपेक्षित है। तनिक भी असावधानी सर्वनाश का कारण बन जाती है। खेत हैं, जो गाँव से दूर होते हैं। वहाँ जाकर उसे घूमना, देखना, सींचना, मेढ़ बनाना, मवेशियों की रखवाली करना, उसे काटना, ले आना, अनाज तैयार करना, आदि से अन्त तक मरने तक की फुरसत नहीं। ऐसे ही घर पर बैल हैं, उन्हें चारा देना, चारा ले आना, उसे काटना, उनकी सफाई करना, गोबर हटान, उन्हें पानी देना सब पूरे काम हैं। पुनः घर हैं, जो कच्चे होते हैं। प्रत्येक वर्ष गिरे ही रहते हैं। उन्हें बनाना भी सरल नहीं। घर का प्रबन्ध भी है। आमदनी नित्य होती नहीं। साल में एक दो बार होती है। साल भर का काम उसी में चलाना होता है। उसका ठीक-ठीक हिसाब बैठाना। ठीक-ठीक प्रबन्ध योजित करना। ये सब काम हैं जो अवश्य ही बड़े समझ के होने के साथ पूरे तूलतबाल के हैं। ऐसा भी नहीं कि बैठे बैठे सब हो जाय। सब काम बड़े हैं। किसानी दूकान दारी या मुनीमी नहीं जो घर की चहारदीवारी के भीतर कर लीजाती है। इसमें घबरा ने वाले, जी चुराने वाले, और बड़े आदमियों जैसे हाथ पैर चिकना रखने वाले खेल जाते हैं, मिट जाते हैं और जीवन को भार बना डालते हैं।

एक दूसरे भरे पूरे परिवार का उदाहरण हमारे सामने है। सैकड़ों बीघे की जमीदारी है। नौकर-चाकर भरे पड़े हैं। दरवाजे पर गाने बजाने वालों की—सफेद पोशों की—भीड़ लगी रहती है। दूध की नदी बहती रहती है। परिवार पर चाँदनी छाई रहती है। मालिक का चेहरा दिव्य है। वे देवता की तरह हैं। देहात में तूती बोलती है। जिस सभा में बैठ जाते हैं, रोब छा जाता है। न्याय-अन्याय के निर्णय में उनकी बात पत्थर की लकीर समझी जाती है। दूर दूर तक शोहरत है। अच्छे-अच्छे के यहाँ शादी-ब्याह का रिश्ता है। जिस किसी के दरवाजे पर चले जाते हैं, पहले तो उसके प्राण सूख जाते हैं, फिर जब यह ज्ञात होता है कि यों ही आए हैं तो वह अपना अहोभाग्य मानता है। अपने दिव्याश्व पर आरूढ़ होकर वायुवेग से मालिक नित्य खेतों की ओर जाते हैं। उतनी ही तेजी से नौकर-चाकर भी दौड़े हुए जाते हैं। जहाँ कहीं इच्छा होती है वे कूद पड़ते हैं और चट सेवक घोड़े की रास पकड़ कर टहलाने लगता है। प्रत्येक कार्य में बड़प्पन है। पग पग पर प्रथम श्रेणी का प्रबन्ध है। त्यौहार पर रुपया पानी की तरह बहाया जाता है। कहीं पिस्ता-बादाम बह रहा है। कहीं पूआ-मालपूआ कट रही है। चतुर्दिक के श्रेष्ठ संगीतज्ञ और नृत्यकार आते हैं। उनका बड़ा सम्मान होता है। युवती नर्तकियों के पायल से बैठक मुखरित रहती है। एक नौकर पर जूतों की वर्षा केवल इसलिए हो जाती है कि वह हाथ से छूट कर जमीन पर गिरी मिठाई उठा कर खा गया। इतने बड़े भाण्डार में क्या कमी है, जो जमीन पर गिरी मिठाई खाई जाय ? वह तो कुत्ते के मुँह में जानी चाहिए थी। इसी प्रकार की अनेकों बातें हैं जो उनकी महिमा बताती हैं। गाँव वाले भगवान की इस देन को कुतूहल से देखते हैं।

उक्त चित्र गाँवों के लिए तो अकल्पित ही है। यहाँ किसी के पास वाजिद अलीशाह की नवाबी नहीं होती। (वह भी विलास-बवण्डर

में नहीं टिक सकी।) इतने पर भी कोई दुस्साहसी किसान वैभव की उत्ताल तरंगों पर दोलायमान होने लगे, बड़प्पन की सींग की उत्तुंग किए समाज की देह पर दरते हुए बेहोश चलने लगता है तथा अपने सर्वस्व की आहुति देकर भी किसी प्रकार चार दिन तक शान जमाए रखने का स्वाँग करता है तो एक बार दाँतों तले उँगली दाबे जमाना उसे देखता है। बाहर का चाकचिक्य आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देता है पर भीतर का क्षय घृणा से भर देता है।

ठीक १० वर्ष बाद इस परिवार का कर्ता दर दर का भिखारी हो जाता है। जमीन बिक जाती है। संगी-साथी कपूर हो जाते हैं। वैभव भोर का तारा हो जाता है। लक्ष्मी अपना डेरा उठा लेती है। जिसे वैसा देखा उसे ऐसा भी। केवल माँगना और खाना वृत्ति रह गई। आज के बाद का कल परम अनिश्चित एवम् अन्धकारमय है। इतने पर भी तुर्रा यह कि रहेंगे बड़े आदमी जैसे ही यद्यपि बचे खुचे खेत जीने-खाने के लिए पर्याप्त हैं परन्तु आलस के मारे खेती नहीं होती। मोटा खाने, मोटा पहनने और खेती जैसे मोटे काम में शर्म आती है। बैठे-बैठे बातें बनाना, गाँजे का धुँआँ सूँघते फिरना और निर्लज्जता-पूर्वक उदर पूर्ति के लिए हाथ पसारना ये काम हैं। समाज में आलस्य के ये औतार शेखी और ऐंठ की प्रतिमाएँ गन्दगी फैलाती हैं। बुराई की ओर लोग शीघ्र आकृष्ट होते हैं। ऐसे लोगों का शेखी, बड़प्पन और मिथ्या दम्भ का समाज पर बहुत बुरा असर पड़ता है। ऐसे एक दो नहीं घनेरे अभागे मिलेंगे जो अपनी दरिद्रता को स्वीकार नहीं करते।

गाँव वाले एक तरफ इतने गरीब हैं कि अधिकांश को भोजन तथा जीवन की आवश्यक वस्तुएँ दुर्लभ हैं। दूसरी ओर वे अपनी सामर्थ्य से अधिक अपव्यय करते दिखाई पड़ते हैं। अपने खेत, गहने और चलाचल सम्पत्ति गिरवी रख कर अथवा बेंचकर शादी ब्याह में गुल-

छूरें उड़ाते वे देखे जाते हैं। अन्ध परम्पराएँ और कई रूढ़ियाँ उनका दिवाला निकाल देती हैं। विवाह की सभी क्रियाएँ और करमट समाप्त हो जाते हैं तो कंगन छूटता है। गाँव की भाषा में उसे 'कक्कन छूटना' कहते हैं। स्त्रियाँ उसे गाजे बाजे के साथ किसी जलाशय अथवा विशिष्ट स्थान पर विसर्जित करती हैं। उस दिन अन्तिम भोज होता है। यह 'कक्कन छूटना' एक मुहावरा हो गया है। वास्तव में शादी ब्याह में गाँव वालों का इतना व्यय होता है कि वे दरिद्र हो जाते हैं। ऋण का सहारा लेना पड़ता है। नाकों चना चबाना पड़ता है तथा नाक बचाने के लिए नाक कटा देना पड़ता है। इधर से घर में नव-बधू का प्रवेश हुआ और उधर से उपवास और फाके मस्ती का। उत्सव तो परम्परावश मनाया जाता है। उसमें हार्दिक उल्लास जबरदस्ती लाया जाता है। वर्तमान शादियाँ देखते हुए कई कारणों से यह कहना उत्तम है कि कहीं मातम मनाया जाता तो अच्छा होता। जैसा कि पीछे वर्णन कर चुके हैं गाँवों में विवाह के पश्चात् जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन का दुखद अध्याय प्रारम्भ होता है उसी प्रकार घर का और परिवार का भी। क्यों नहीं ? जी खोलकर व्यय करने वाला, रण्डी भांड़ों को गहरा रकम चुकाने वाला, एक-दो हजार-पाँच सौ आदमियों को हलुआ-पूड़ी खिलाने वाला बड़ा आदमी समझा जाता है ? नाक वाला समझा जाता है। भले ही दूसरे दिन उसके घर सत्तू का भी ठिकाना न रहे। चार दिन वाह वाह होती है। फिर लोग भूल जाते हैं। समय के प्रवाह में यश अर्जन के वे हंगामे समा जाते हैं। स्थायी रूप से रह जाती है उनकी दरिद्रता, उनका ऋण और घने अन्धकार से परिपूर्ण भविष्य !

कठिनाई यह है कि समझदार और आधुनिक युग की हवा में पले हुए बुद्धिमान लोग भी इस समस्या का उचित समाधान करने में असफल हैं। शादी ब्याह में शान के सामान मूर्ख लोग जिस तन्मयता से जुटाते देखे जाते हैं उसी लगन से, बल्कि उनसे भी अधिक और बड़े पैमाने

पर चतुर लोग सजाते हैं। माना कि यह ठाट-बाट और जलसा सही है। जीवन की मनहूस अन्हरिया में चार दिन चाँदनी छा जाती है। पर पैर पसारने के पूर्व अपनी चादर को देख लेना भी तो आवश्यक है। शक्ति की सीमी का अतिक्रमण कर रुपया फूँकना, बड़े लोगों का अनुकरण करना तथा मर्यादा वाला बनने के लिए घर का विनाश करना किसी भी अर्थ में बुद्धिमानी नहीं है। जिनके पास काफी रुपया है, जिन्होंने गरीबों का तथा अपना पेट काट कर चाँदी के टुकड़े बटोर रखा है, वे फूँक रहे हैं, फूँके गरीबों की थैली में कुछ जायगा ही। उनकी देखा-देखी निचले छोटे भइया लोग भी "आकाश माँड़ों और पताल थून्हीं" करने लगें तो सत्यानाश का प्रथम सोपान तैयार समझना मिथ्या नहीं होता।

छोटी जातियों में यह दिखावा कम था। परन्तु वे भी देखा-देखी सर्वनाश की खाईं खोदना प्रारम्भ कर दिए हैं। उत्सव में अधिक व्यय करने का परामर्श वही देते हैं जिनके पास रुपया अधिक होता है और यह आशा होती है कि उनके रुपए के लिए यह ऋणी बनकर बाजार हो जायगा। स्वार्थी लोग मर्यादा और परम्परा का वह मंत्र फूँकते हैं कि जादू सिर पर चढ़कर बोलने लगता है। कुछ लोग शुद्ध शान के लिए तो कुछ लोग इस धारणावश रुपया पानी की तरह बहा देते हैं कि लड़का उस जन्म का ऋण है और तब उसे चुकाना तो कर्तव्य ही है। कुछ भले आदमियों को मारे लाज के न चाहते हुए भी विवश होकर पैसा लुटाना पड़ जाता है। कुछ देखा-देखी कुएँ में कूदते हैं। कुछ अपने भाई-पट्टीदार के 'कम' न रहने की भावना फलस्वरूप 'एक की जगह तीन' खर्च करके मन की मुराद पूरी करते हैं। कुछ सिर्फ वाह-वाही लूटने की मधुर कल्पना को साकार देखने के लिए धन-दौलत न्यौछावर कर देते हैं। अपव्यय की करुण कहानी भी कम मनोरञ्जक नहीं है।

गाँवों में ऊँच और नीच के भेद का भयंकर रूप दृष्टिगोचर होता है। कर्म चाहे जैसा भी नीच क्यों न हो, उच्च वंश में जन्म लेने के कारण पूज्य हैं। नीची जाति वाले कितने भी सदाचारी क्यों न हों अस्पृश्य हैं। उनकी परछाईं से भी बचते हैं। वैज्ञानिक युग ने यद्यपि आँखें खोल दी हैं और जन्म के हिसाब से छोटे बड़े के अविवेकपूर्ण माप-दण्ड की बात समाप्त होती जा रही है फिर भी अभी गाँवों में वही हजार वर्ष पहले की हवा काम कर रही है। कचहरियों की कृपा से यह बन्धन कुछ शिथिल हुआ है। बार-बार घर छोड़कर बाहर भीतर जाने-आने वाले समझ रहे हैं। ऐसे लोगों की फिर भी कमी नहीं जो शहर में दो-दो, चार-चार दिन बिना खाए-पीए रह जायेंगे केवल इसलिए कि वे छूआछूत के मामले में बहुत कट्टर हैं। जैसे उनके लिए उनके घर के बाहर सब अपवित्र हैं। कौन-कौन जातियों का छुआ पानी ठाकुर नहीं पीते। किस-किस जाति का छुआ हुआ भोजन नहीं कर सकते। किस जाति का छुआ पानी पंडित जी ग्रहण कर सकते हैं। किस जाति से शरीर छू जाय तो पुरोहित जी पुनः स्नान करेंगे। किस जाति के घर में वे अन्न-जल ग्रहण नहीं कर सकते। आदि आदि बातों की एक विस्तृत विधान तालिका है। विदेशियों के आक्रमण से बचने के लिए, उनके प्रभाव से अछूता रहने के लिए जिन कर्मों एवम् विधियों के अभेद्य कवचों का निर्माण किया गया वे ही आज गाँव वालों के शरीर को कस कर निर्जीव कर रहे हैं। अब तो पांडित्य का गर्व भी नहीं रह गया। पैसे के प्रलोभन से सब विचलित होते देखे जाते हैं। शूद्र के घर पंडित जी को अन्न-जल ग्रहण करने में संकोच नहीं, बशर्ते कि गहरी दक्षिणा मिले। इसी प्रकार छुआछूत के द्वारा उत्पन्न कठिनाइयों से बचने के लिए 'बाहर'-'भीतर' की कल्पना की गई। बाहर का अर्थ घर के बाहर और भीतर का अर्थ घर के भीतर। बाहर एक उच्च कुलोद्भव व्यक्ति नीच जाति के प्राणी के हाथ की कच्ची रसोई खा सकता है किन्तु घर पर नहीं

घर पर वही पुरानी टीमटाम है। छोटी जाति के घर खाना है तो पक्की रसोई खायेंगे। कच्ची नहीं। इस खाने-पीने के भेदभाव ने जीवन को कृत्रिम बना दिया है। बीच में एक धर्म की खाईं थी, जो विश्वास को बल देती थी परन्तु अब उसके ध्वंस अवशिष्ट गढ़ के ईंटे विश्वास की नींव हिला रहे हैं। एक पुराने सरदार एक कहानी कहा करते थे जिसका तात्पर्य यह था कि जहाँ काम न चल सका, छूट दी गई। जहाँ काम चल गया वहाँ तरह-तरह के नियम बनाए गए। यह करो, वह मत करो। कुत्ते और मक्खी में कौन अधिक गन्दा है ? कुत्ता अवश्य ही मक्खी से कम गन्दा है परन्तु यदि वह भोजन छू दे तो अग्राह्य हो जायगा। विपरीत इसके मक्खियाँ दिन-रात उसी पर आसन जमाए रहती हैं किन्तु उसके अपवित्र होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसका कारण यह कि कुत्ते को रोका जा सकता है परन्तु मक्खी दुर्निवार है। इसी प्रकार और बातें हैं। सत्य से दूर छोटे-बड़े तथा स्पृश्या-स्पृश्य के वर्गीकरण को कितने लोग ईश्वरीय विधान समझते हैं। कितने इन बातों को धर्म का प्रथम सोपान समझते हैं। कोई चमार पंडित जी के सामने चारपाई पर नहीं बैठ सकता है। पृथ्वी पर बैठेगा। वह तथा उस श्रेणी की जातियाँ काठ की चौकी पर बैठ सकती हैं भले ही चारपाई से ऊँची क्यों न हो !

एक बात और स्पष्ट है। धीरे धीरे छोटी-बड़ी जाति का अर्थ होता जा रहा है धनी और निर्धन ! धन की छोटाई और बड़ाई। इसका परिणाम यह देखने में आने लगा है कि लक्ष्मी पात्र निभर्य पंडित जी के सिरहाने बैठने लगे हैं। अवश्य ही यह भेद समाज का कोढ़ है। आपसी प्रेम के मार्ग भी एक खतरनाक रोड़ा है। दुनियां कहाँ से कहाँ चली गई। विद्या ने कितना प्रकाश दिया परन्तु गाँवों की इस तमसभूमि पर अभी तक अँधेरा है।

गाँव में कौन बड़ा है ? ऊँच कौन है ? पगड़ी वाला कौन है ?

वह जो कुछ काम नहीं करता। दिनभर बैठे-बैटे गप्प हाँका करता है। जो भीतर से खाली है पर बाहर भरे-पूरे का ठाट खड़ा किया है। जिसकी औरतें असूर्यपश्या हैं। बन्दी जीवन व्यतीत करती हैं। ईंटे के पिंजरे में समाज से छिपी रहती हैं। जिनका सारा जीवन स्वच्छन्द जीवन के आन्दानुभव की शांति से सर्वथा वंचित है। विपरीत इसके नीच कौन हैं। वे जो काम करते हैं। कमाते हैं। खाने का सामान उत्पन्न करते हैं। अपने पैर पर खड़े हैं। दूसरों के चलने-फिरने के लिए 'पैर' का काम करते हैं। जिनके जीवन की पुस्तक खुली है। जो अपने परिवार के साथ खेतों में काम करते हैं। जो श्रमिक हैं और वास्तविक सुख के अधिकारी हैं।

यह छोटे बड़े की भावना सामान्न वादी विचार धारा एवम् जीवन प्रणाली का प्रतिनिधित्व करती है। जिसकी टेंट चार पैसे से गरम हो जाती है दूसरों के सर्वस्वापहरण एवम् उसे छोटा समझने में गौरव समझता है। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है उसी प्रकार गाँव के बड़े छोटों को। पुनः वे छोटे अपने से छोटों को खाने की फिक्र में रहते हैं। छोटी जाती वाले 'कमीने' कहे जाते हैं। उनका काम है श्रम करना। मजदूरी करना। ये बड़े लोगों की जमीन में बसे होते हैं और उनकी प्रजा कहलाते हैं। वे जब चाहें निकाल सकते हैं। ये चौबीस घन्टे के, बेदाम के गुलाम हैं। जब जरूरत हुई एक आवाज में इन कमीनों का परिवार एक पैर पर खड़ा मिलेगा। मजाल नहीं कि विलम्ब हो। मार मार कर चमड़ी उधेड़ देना तो मामूली बात है। युग यद्यपि बदल गया और एक तरफ नए कानून ने और दूसरी ओर नई हवा ने इस तानाशाही को निर्जीव कर दिया तो भी अभी किसी न किसी अंश में ये कुसंस्कार अवशिष्ट हैं। ऐसी बात नहीं कि कथित 'दरजा' लोगों में 'बाबू' के प्रति प्रेम के वे बनिहारी में जुटे रहते हैं। यहां रोब है, शान है, उनसे काम करने का, मनमाना काम करने का

जन्म सिद्ध अधिकार है। 'बनिहार' नाम भी सार्थक ही है। वे 'बनि' पाते हैं। 'बनि' माने मजदूरी। यह अनाज के रूप में दी जाती है। जो सब से रद्दी अनाज समझा जाता है वहीं इन्हें मिलता है। यह 'बनि' प्रति दिन दो सेर से लेकर तीन सेर अनाज तक कहीं कहीं होता है! काइयाँ समझे जाने वाले किसान 'बनि' लूट भी लेते हैं। काम जितने ताव से कराया जाता है। उसे देखते हुए 'बनि' देने में सदा आलस्य होता है। यह उस बटखरे (बाँट) से दी जाती है जो घरेलू होता है। जिसकी मान्यता पूर्ण सन्दिग्ध होती है। किसी किसी परिवार में यह बाँट रोटी पकाने का तवा माँजते माँजते घिस गया हुआ होता है।

काम कराकर पूरी मजदूरी देने और उल्टे रोब गालिब करने की सामन्ती भावना एक प्रकार का सुख देती है। यह रिवाज खुजलाने जैसा खोखला सुख समाज को भी खोखला कर रहा है। इस प्रकार का उत्पीड़ित प्राण जब चेतन है तो ज्वालामुखी सा हो जाता है। एक तो वैसे ही गाँवों में शिक्षा-दीक्षा का नाम नहीं दूसरे इस प्रकार की भावनाओं द्वारा समाज के एक बहुत बड़े भाग पर शताब्दियों से संगठित अव्यवहार और सामूहिक प्रहार होता चला आ रहा। अब युग आ गया है कि गांव वाले अपनी हेठी कम करें। जमीन वाले श्रम करना सीखें। श्रमिकों को कमीना, बनिहार और कमकर मात्र न समझें। वास्तव में ये परम सहयोगी और श्रद्धेय हैं। इनसे प्रेमदर्शाएँ, दूसरे के श्रम पर चैन की वंशी बजाते वासर बीत गए। स्वयं को श्रम में जो योजित नहीं करता उसकी रोटी और उसका विस्तरा सन्दिग्ध है।

ऐसी बात नहीं कि गाँवों में सभी बड़े लोग बनिहारों पर अत्याचार ही करते हैं। कहीं कहीं तो ऐसा प्रेम-भाव पाते हैं, जैसे अपने परिवार के ही हों। खान्दानी हलवाहे कितनी जगह पाए जाते हैं। कई पीढ़ियाँ बीत गई पर कोई खटका नहीं हुआ। दुख में, सुख में गृहस्थ अपने

बनिहार के साथ हैं। वे भी बाबू का जहाँ पसीना गिरता है, अपना खून बहाने को तैयार मिलते हैं। ये परिवार समेत सेवक किसानों के जीवन को परम मधुर बना देते हैं। इनको फटी आंखों से न देखने वाले स्वयं अन्धे हैं। इन्हें पशु समझने वाले की नरता स्वयं प्रमाणित नहीं।

किसानों के स्थायी सेवकों की ओर देखें। ये 'पवनी' कहे जाते हैं। मुख्य पवनी हैं नाऊ (नाई), बारी, कमकर (कहार), धोबी, लोहार, दर्जी, हलखोर (मेहतर) और कुम्हार। ये अन्य जातियों के हाथ पैर हैं। इनके बिना उनका जीवन दूभर है। किसी जमाने उच्च वर्ग की इनसे गहरी आत्मीयता रही होगी पर आज के व्यावसायिक दृष्टि कोण ने उसे बदल दिया है। त्यौहार अथवा किसी उत्सव पर आज भी भोजन तथा न्योछावर, पुरस्कारादि देने की व्यवस्था चली आ रही है। कभी भोजन और उक्त बधाइयाँ प्रेम से दी जाती रहीं और आज मजबूरियाँ ही अधिकाँश में दिलवाती है। उनके लेन-देन की प्रामाणिकता परम्परा सिद्ध है। नाऊ-बारी, पंडित-पुरोहित के सहकरी होते हैं। ये बड़ा की दुम होते हैं। रोटी देख कर जो बराबर हिलती रहती है। सेवा ही इनकी जीविका है। हजामत और पत्तल देने के अतिरिक्त ये और भी बहुत से काम करते हैं। ये अन्तर्ग्रामीण समाज नीति के सम्बाहक होते हैं। ये आदर के पात्र भी होते हैं। चतुर समझे जाते हैं। निमंत्रण, ब्याह, आदि उत्सव के कार्य तो पूर्ण रूप से इन्हीं द्वारा सम्पादित होते हैं। बाहर नाऊ-बारी और भीतर नाइन-बारिन हमारे ग्रामीण जीवन के महत्व पूर्ण पुरजे हैं। ग्रामीण समाज में नाऊ एक ऐसा जीव है जो अधिक से अधिक लोगों के बारे में परिचय और जानकारी रखता है। वह घर-घर, गाँव-गाँव का भेद जानता है। निमंत्रण देने का तो वह एक मात्र अधिकारी है। लगन के दिनों में उसे दौड़ते बीतता है। निमंत्रण की हल्दी के मंगलमय रंग

से दमकती हुई चिठ्ठियाँ लेकर वह गाँव-गाँव जाता है। वह किसानों के स्वशासनान्तर्गत डाक-विभाग के इन्चार्ज से लेकर डाकिये तक के सारे काम करता है। जब से निमंत्रणों का बण्डल लेकर वह गृहस्थ के घर से चलता है, बस चलता ही जाता है। तब तक जब तक कि सभी पत्र यथा स्थान पहुँच नहीं जाते। तनिक भी कहीं विराम नहीं लेता। दोपहर में जहाँ पहुँचा भोजन कर लेगा अन्यथा सत्तू-सीधा मिलता जायगा, गठरी बाँधता जायगा। घर आते आते यह गठरी बड़ी भारी हो जाती है। इस कार्य में परस्पर सहयोग भी दिखाई पड़ता है। किसी नाऊ के जिम्मे अधिक कार्य है तो दूसरे भी सहायता करते हैं। कभी-कभी एक ही रास्ते पर दो नाऊ आमने-सामने से आते मिल गए। पहला दूसरे के क्षेत्र में जा रहा है और दूसरा पहले के क्षेत्र में। वह अब यहाँ ये अपनी-अपनी पत्रिकाएँ बदल लेंगे। श्रम बच जायगा। मजाल क्या कि काम के तनिक भी त्रुटि हो। कितना उत्तर-दायित्व है? अब तो जमाना बदल रहा है लोग डाक से भी भेज देते हैं। निमंत्रण-पत्र प्रेस में छपवा लिए जाते हैं। मगर वह रमणीयता कहाँ? शुभ मुहुर्त में पंडित जी आकर अनुकूल दिशा में बैठ कर गगा जी, गुरु जी, शिव जी आदि देवताओं को पहले निमंत्रण लिखेंगे। तब जाकर लड़के लड़की ननिहाल को तब अन्यत्र के लिए। सब पर मांगलिक द्रव्य हल्दी लगाई जायगी। पंडित जी दक्षिणा पायेंगे। पत्र नाऊ के हवाले किए जायेंगे। वह प्रसन्न होगा। आखिर उसकी जीविका का सनातन सारणा यही तो है?

लोहार और कोहार भी महत्वपूर्ण पवनी हैं। इन्हें सालाना मजदूरी मिलती है। अब इनका व्यवसाय शनैः शनैः स्वतन्त्र होने लगा है। धोबी कपड़े धोता है। वह भी सालाना मजदूरी पाता। विवाहादि अवसरों पर इन्हें पुरस्कार मिलता है। पुरस्कार की वह रकम दो आने से लेकर दो रूपए तक होती है। तिलक और ब्याह में हजारों रूपए का

जहां वारा न्यारा हो रहा है, नाऊ धोबी के नाम पर छोटे छोटे सिक्के—पैसे-अधन्नी तक—निकलते हैं। कारण कि ये तो पवनी हैं। काम करने के लिए हैं। जूते की चमड़ी हैं। दमड़ी इन्हें जितनी कम दी जाय, बड़प्पन है। संयोग की ही बात है। सामाजिक जीवन की ये महत्वपूर्ण इकाइयाँ बिखरने लगी हैं और प्रेम श्रद्धा नहीं, सेवा नहीं, श्रम का मोल शुद्ध स्वार्थ और पारिश्रमिक की तुला पर तुलने लगा है।

यद्यपि गाँवों में धनी-गरीब जैसे वर्ग वास्तव में हैं नहीं, परन्तु कुछ बातों को ध्यान में रखते हुए दो भाग अवश्य हो गए हैं। एक में उच्च वर्ग है। उच्च वर्ग वह है जिसके पास जमीन अधिक है। जो जमीनदार है। निम्न वर्ग में छोटी जाति के लोग हैं जिनके पास जमीन नहीं है। जिनकी जीविका का एक मात्र साधन मिहनत मजदूरी और सेवा ही है। यदि कोई छोटी जाति का व्यक्ति जमीन वाला यानी जमीनदार हो जाता है तो उसकी गिनती उच्च वर्ग में होने लगती है। उच्च वर्ग की सभा में उसका महत्वपूर्ण स्थान हो जाता है। अपनी जातिवालों के आचार व्यवहार वह छोड़ देता है। उसके घर की औरतों का जीवन उच्चवर्ग की औरतों की भाँति बन्दी जीवन हो जाता है। इन औरतों का जीवन भी यहां क्या विचित्र है? जिनके पास सम्पत्ति है वे औरतों को भी सम्पत्ति समझने लगते हैं। और घरों में छिपा कर रखते हैं। जैसे हर कोई उन पर डाका डालने के लिए प्रस्तुत है। विपरीत इसके मजदूर वर्ग की स्त्रियाँ खेतों में पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर प्रत्येक प्रकार का श्रम करती हैं। बड़ों की देखा देखी कुछ दिन तक इनकी बधुएँ भी विवाह के पश्चात् कुछ दिन बन्दी जीवन की साध बुझा लेती हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस प्रकार के बन्दी जीवन का मूल्य स्त्रियों की निगाहों में बड़ा ही ऊँचा, आदरणीय एवम् भाग्य-सम्भव समझा जाता है। स्पष्ट है कि गाँवों में ऊँच-नीच की पहचान स्त्रियां

के जीवन से हो जाती है। जाति तो बीच की एक गिरती दीवार सी है। वास्तविक वस्तु है सम्पत्ति। उसी का प्रकाश स्त्रियों के जीवन में दिखाई पड़ता है। उच्च वर्ग का व्यक्ति खेत में निम्नवर्ग के व्यक्ति की भांति मेहनत करता दिखाई पड़ सकता है। पर उसके घर की स्त्रियां संस्कार वश यद्यपि खेतों में मजदूरी करने नहीं जायँगी परदा उतना तना तना नहीं ही रह जायगा। यह परदा भी क्या विडम्बना है? दुनिया से दूर किसी कोने में सारा शरीर एक कपड़े में लपेट कर, समेट कर जिस प्रकार भारत की लक्ष्मी रूठी कहीं बैठी है उसी प्रकार गाँवों की नारी वर्ग अपने को छिपाकर अज्ञान की बेहोशी में पड़ा है। यह परिस्थित है जो पुरुषों को अवसर देती है कि वे अन्यान वस्तुओं की भांति स्त्रियों भी अपनी सम्पत्ति समझें। उनकी स्वतंत्रता का अपहरण करें एवम् उनके केश को सतत् अपनी वज्रमुष्ठि में रखें।

किसानों का मिथ्या दम्भ, थोथी शान और दिखाऊ पगड़ी की ऐंठ तिलक आदि उत्सवों पर प्रगट होती है। जिस परिवार के सदस्य अन्न-वस्त्र से सन्तुष्ट नहीं हुए उसका कर्ता भी ऐसे मौकों पर धन फूँकता है। खूब ठाट-बाट के प्रदर्शन का प्रयत्न होता है। गरीबी को चँचला माया के परदे में छिपाने का प्रयास होता है। भोजनादि में जिस प्रकार विविध व्यंजनों की व्यवस्था की जाती है उसी प्रकार भाई बिरादर को खिलाने में भी कोर कसर नहीं रखी जाती। ये भाई बिरादरी के झमेले क्या बरबादी के जाल हैं? किसी अच्छे युग में अपनी हविश मिटाने के लिए किसी ने गाँव भर को खिलाया। पुनः अनिवार्य हो गया कि अन्य भी खिलावें। चल गया यह क्रम पुश्तैनी। संयोग से किसी को बुरे दिन देखने पड़ गए तो भाई बिरादरी की इस विशाल सेना को मुख-यात्रा कराते-कराते कचूमर ही निकल जाती है। ये भाई लोग भी क्या बला है? मय परिवार के अण्डे-बच्चे समेत भोज की टोह में रहते हैं। ठीक समय पर खोंखते-खँखारते पत्तल पर आ धमकते हैं।

नियमित भोजन से ड्योढ़ा-दूना तो उड़ाते ही हैं। फिर भोजन में जितना व्यय हुआ उतना ही बरबादी में। पत्तल में छोड़ना तो आम बात है। एक व्यक्ति का साधारण भोजन भी लोग बड़ी बेशर्मी से पत्तल में छोड़ देते हैं। तर्क यह कि कुत्ते और डोम भी तो इसी के आसरे दरवाजे पर मुखरित है? परसने में भी एक बड़प्पन है। हाथ समेट कर देना निन्दास्पद है। हाथ खोल कर देना श्लाघ्य है। अन्त में दही-चीनी। चीनी यदि मुट्ठी बाँधकर दी गई तो बस! लुटिया डूब गई। शिकायत की बात हो गई। गाँव की गिनती ऐरे-गैरे में हो जायगी। समझा जाता है कि इस छोटी-सी बात का प्रभाव यहाँ तक पड़ सकता है कि लड़कों का शादी-ब्याह रुक जाय! चीनी हाथ खोल कर दो। खूब दो। पत्तल में अट्टाल खड़ी कर दो। फिर वाह-वाही लूट लो! खूब खिलाया!

बहुत-सी प्रथाएँ हैं, घनेरे रवाज हैं, कदाचित् जितने गाँव हैं उतने प्रकार की चलन है व किन्तु एक बात सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। धन का अपव्यय खूब होता है। भोज से आनन्द और चहल-पहल का प्रकाश तो जरूर होता है पर आने वाला अन्धकार के मुकाबिले में महँगा पड़ता है। किसी के पास काफी पैसा है, ठाट-बाट से भोज-भात में चाँदी छलकावे पर उसकी देखा देखी अकिंचन जन क्यों बरबादी के लिए बद्धपरिकर मिलते हैं? गाँवों में कितने ऐसे हैं जिनके पास फालतू रुपया है? हाँ बिरादरी का दबाव प्रबल होता है। बिरादरी यह नहीं समझती कि उनका एक दिन का भोजन किसी की कमर तोड़ देगा। उन्हें तो भोज चाहिए ही। ऐसे नहीं तो लड़कर लेंगे।

यह ग्रामीण वातवरण का दोष है कि बिरादरी के दबाव एवम् जाति-भाइयों के सामने गरदन नीचे न झुके, इसलिए लम्बे-लम्बे भोज होते हैं। कभी सुखी और सम्पन्न गाँव खाते तथा खिलाते थे। इसमें उन्हें आनन्द मिलता था। आज दशा दूसरी है। जिन्हें दोनों जून भोजन

नहीं मिलता, जिनका घर जल रहा है वे इस हा-हा-कार में जशन करें, यह ऐसा ही है जैसे श्मशान में होली गाई जाय। उत्सव मनाने के और भी तरीके हो सकते हैं। हजार-दो-हजार ऐसे लोगों को खिलाकर जिन्हें खाने की कोई कमी नहीं है कदापि न तो कोई धार्मिक कृत्य किया गया और सामाजिक-आदर्श ही प्रतिष्ठापित किया गया। यदि यह भोज उन लोगों का होता जिन्हें जीवन में शायद ही कभी उत्तम भोजन नसीब हुआ हो—ऐसे लोग प्रत्येक गाँव में टोल के टोल मिलेंगे—तो किसी प्रकार इसका समर्थन किया जाता और उसका एक उपयोगी नैतिक पक्ष होता। युग-युग की अतृप्त आत्माएँ जी का काँटा निकाल लेतीं। मगर इन्हें तो पूछा भी नहीं जाता!

बरबादी की कोई सीमा नहीं और प्रेम बढ़ाने का यह तरीका भी जंगली है। खाने वाले का प्रेम तो जरूर बढ़ जाता है पर खिलाने वाला? वह परम्परा के नशे में विभोर होता है। आज के स्वार्थमय वैज्ञानिक युग में वह क्यों और कैसे खिलाता है, यह तो वही जानता है। धन्य हैं बिरादरी भगवान! उनकी महिमा अपार है। जब सत्रह-सत्रह और चौदह-चौदह गाँव का भोज कोई महत्वाकांक्षी ग्रामीण ठान देता है और पच्चीस-तीस हजार रुपए पर पानी फेर कर शाबाशी बटोर लेता है तो उसकी बुद्धि अजायब घर की वस्तु हो जाती है। इस युग में इस प्रकार ऐसी गहरी रकम जब धुँआ बनकर उड़ जाती है तो देखकर अचरज होता है।

सरलता कही जाय या मूर्खता। परम्परा प्रभाव कहा जाय या अज्ञान तथा शिक्षादि की कमी का प्रणाम। अपने घर नाते-रिश्तेदार अथवा दस सम्भ्रान्त व्यक्तियों का आय देखकर किसान उछल पड़ता है। वह उस दिन बादशाह हो जाता है। जिस प्रकार शादी के दिन दूल्हा बादशाह हो जाता है उसी प्रकार तिलक के दिन उसका बाप। लड़का वाले उस दिन अत्यन्त नम्र बनकर रहते हैं। तिलक की प्रथा भी

बडा बेढंगा है। खुल्लम खुल्ला लड़कों की खरीद-बिक्री होती है। निर्धारित समय में यदि थोड़ा भी कम है तो लड़की वालों को जलील होना पड़ता है। अपमानित स्थिति में बैठे रहना पड़ता है। लड़के वाले की शान में चार चाँद लग जाते हैं। कभी लड़की की शादी में जिनकी ऐसी दुर्दशा हो जाती है वे लड़के की शादी में उसका कसर निकाल लेते हैं। समाज का यह एक भयंकर रोग है। कितने भयकर परिणाम तिलक के सामने आए पर लोगों की आँखें नहीं खुलती। साधारण स्वार्थ में किसान बह जाते हैं। लड़के-लड़की का यह भेद कितनों के प्राण ले चुका। आज दशा यह है कि लड़की भार बन जाती है और लड़का नम्बरी नोटों का बण्डल समझा जाने लगता है।

किसान तिलक पाने के लिए कभी-कभी पूरा मकड़जाल बिछाते हैं। जब तक लड़का क्वांरा है तड़क-भड़क और डीम-डाम का प्रदर्शन करता है। लड़का मदरसे में जाता है। घर-दरवाजा साफ-सुथरा रहता है। अतिथि के आते ही नाई या कहार पानी पिलाने या सेवा कार्य के लिए आ जुटते हैं। बक-बक करने वाले दो-चार दलाल दरवाजे पर रहते हैं। ऊँची-ऊँची बातें होती हैं। पूरा जाल फेंका जाता है कि कोई आंख का अन्धा गांठ का पूरा आकर फँस जाय। कितने परिवारों का उदाहरण सामने है जो इसे फाँसने की चिन्ता में स्वयं फँसकर बरबाद हो गए।

ग्रामीणों की यह जीवन-प्रणाली अवश्य ही मुगलों की विलास-वासित सामन्तवादी मनोवृत्ति से प्रभावित लक्षित होती है। बारातो में तो पूरा उन्हीं का नक्शा कहीं-कहीं देखते हैं परदे की प्रथा से लेकर समाज की समस्त बुराइयों पर उनकी छाप है। कुछ अच्छी बातें विकृत रूप में सामने आ गई हैं।

किसानों के जीवन में ऐश आराम कहाँ ? नृत्य की कठिनाइयों के कारण जर्जर होकर भी एक दिन हिम्मत करके वह ऐसा ठाट बनाता है

कि एक पंथ दो काज की कहानी चरितार्थ हो जाय। बिरादरी में नाक रह जाय और ठाठ-बाट तथा ऐश आराम की अभावानुभूति की चिरकालीन जलन पर मरहम पट्टी हो जाय। यही वह अवसर है जब किसी बात पर खटका होता है तो बिरादरी वाले पैर बजाते हैं। भोज में सम्मिलित न होकर अपनी मनुहार कराते हैं। उनकी शान रह जाती है। कितने लोग इस प्रकार के उत्सव अवसरों पर अपने बैरी के द्वार पर न जाकर अपने शान की रक्षा कर लेते हैं।

ऐसे अवसरों पर औरतों की बन आती है। यह जलसा सच पूछिए तो उन्हीं का होता है। उन्हें कुछ जुटाना थोड़े है? हाँ फरमाइशें अवश्य करनी हैं। उनके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। समस्त शरीर आभूषणों की मोटी-मोटी जंजीरों और बेड़ियों से कसे हुए वे फिरकी की भांति इस घर से उस घर में फाँदती हैं। वे ऐसे मौकों पर दिल खोलकर गीत गाती हैं। मेहमानों को चुन-कुन कर गालियाँ देती हैं। वह समय बड़ा रसीला होता है। बहार आ जाती है। औरतों के इन मंगल-मय गीतों की जितनी प्रशंसाकी जाय थोड़ी है। इनमें काव्य-रस का एक ऐसा सोता निकलता है जो प्राणों को परिसिञ्चित कर तृप्त कर देता है। भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल रूप ध्वंस के पश्चात् भी यदि कहीं पूर्ण सुरक्षित रूप से अवशिष्ट है तो इन ग्राम गीतों में ही। यहां प्रत्येक पुरुष राम है। प्रत्येक स्त्री सीता है। चौकी और खाट चंदन की हैं तथा लोटा थाली भी सोने चांदी से कम के नहीं। आज कल कुछ गांवों में खड़ी बोली के नए गीत और गजल के गाने स्त्रियों के समाज में आ रहे है। इन्हें सुनकर ऐसा लगता है जैसे गीतों ने आत्म हत्या कर लिया। पुरुषों की भाँति स्त्रियों की भी विरादरी होती है। ऐसा भी देखने में आता है पुरुषों से कम उनकी विरादरी में व्यय नहीं होता। इधर पुरुषों का भोज चल रहा है, उधर वे भी कठौती भर-भरकर घर-घर पहुँचा रही हैं। यह विचित्र बात है कि एक घर की कच्ची रसोई

दूसरे घर उठाकर जायगी तो उसे पुरुष नहीं खा सकते परन्तु स्त्रियों को इसकी छूट है। स्त्रियों के हाथ से पवनी और गाँव के अन्य छोटे लोग भी टुकड़े पा जाते हैं। ये छोटे लोग बड़ों की यह चकल्लसबाजी हसरत भरी निगाहों से देखते हैं। काश कि ईश्वर उन्हें भी धन देता ! वे भी धनी होकर ऐसा करते। शान-शौकत में फूँकने का यह आदर्श समाज के अनन्तस्तल में घर कर गया है।

गाँववालों की गरीबी देखकर स्वाभाविक रूप से मन में उठता है कि वे शान्तिपूर्वक मिल-जुलकर रहते होंगे। गरीबी का कठिन भार उन्हें मेलमिलाप के लिए बाध्य कर देती होगी। अभाव की भीषण ज्वाला में जल कर वे एक दूसरे के वैभव और बढ़ती के प्रति उत्पन्न होनेवाली जलन का शमन कर डालते होंगे। पर बात ऐसी नहीं है। यह देखकर महान आश्चर्य होता है कि यह सर्वहारा समुदाय भी विच्छू के डंक के नाईं सदा तुलका रहता है। जहाँ किसी का स्पर्श हुआ कि बस विषैला प्रहार ! कवि विहारी का एक दोहा है:—

कहलाने एकत बसत, अहि-मयूर मृग-बाघ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ-दाघ-निदाघ॥

ग्रीष्म की प्रचण्ड ज्वाला से पीड़ित होकर सर्प मोर मृग और बाघ अपने जन्म जात बैर को भूल कर एक जगह निवास करते हैं। वन जैसे तपोवन हो जाता है। यहाँ गाँवों में सतत् प्रवहमान, ऊर्ध्वमुख दरिद्रता की लपट में झोंसे जाकर भी ग्रामीण एक दूसरे से नहीं मिल पाते। पुनः यहाँ मोर-साँप तथा मृग-बाघ जैसे जन्मजात शत्रु भी नहीं हैं। यहाँ तो सभी लोग दुर्भाग्य की ठोकर से एक समान लुढ़कते-पुढ़कते बेचारे जीव हैं। ये जब अपनी सीमित और अल्पशक्ति अपने भाइयों को नीचा दिखाने में व्यय करते दिखाई पड़ते हैं तो अचरज होता है।

आज गाँवों में जिसकी लाठी उसकी भैंसवाली कहावत बहुत

मशहूर हो गई है। यहाँ बलवान इसलिए नहीं हैं कि न्याय और गरीबों की रक्षा करें। बल्कि यहाँ शक्ति इसलिए अर्जित की जाती है कि आसानी से दूसरों को लूट सकें। मनमानी कर सकें। अन्याय, अत्याचार, अनीति, व्यभिचार, लाम्पट्य और अपहरण करके भी छाती फुला चल सकें। कोई उँगली तक न उठा सके और जो उँगली उठाए उसकी गरदन तोड़ दें। यह शक्ति भी दो तरह की होती है। एक धन की तथा दूसरे जन की। विद्या-बुद्धि की शक्ति का प्रभाव गाँव में बहुत ही स्वल्प होता है। जिनके पास जन शक्ति है अर्थात् जो स्वयं शरीर से हट्टा-कट्टा हैं तथा जिनके घर दो-चार और लठ-धर हैं, वह रास्ता सीधे नहीं चलता | सीधे नहीं बोलता। खेत उपारता है। दूसरों का खेत कटवा लेता है। पग पग पर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता चलता है। कहने का तात्पर्य यह कि वह चोर डाकू एवम् पक्का शैतान होता है। जिसको धन का बल होता है वह मुकदमाबाज होता है। पहले लिखा जा चुका है यह धन किस प्रकार अनीति, अन्याय और अपहरण से अधिकांश में एकत्रित होता है। मुकदमे सत्य कम होते हैं और झूठ अधिक। शहरों में कानून के पेशेवर शिकारी दूकान लगा लगा कर इसीलिए तो बैठे रहते हैं। एक गाँव का धनी आदमी आज गर्व में रहता है कि दो-चार झूठे मामले बनाकर भी किसी पर चालू कर दें तो हार जीत होते-होते दो-चार वर्ष लग जायेंगे। तब तक तारीख पर आते-जाते में ही बच्चू का कचूमर निकल जायगी। वकील मुख्तार तथा कचहरी के घड़ियालों को हथेली चटाते-चटाते ही खून सूख जायगा कमर टूट जायगी।

धन का ही नहीं, जन का भी संहार होता है। मारपीट तो साधारण वस्तु है। इसका कारण तो और भी साधारण होता है। उस पर समझौता सम्भव होता है पर गर्व का एक कच्चा घड़ा ऐसे के गले पड़ा रहता है कि जरा-सी ठेस लगी नहीं कि फूट गया। यह

अपने पैर कुल्हाड़ी मारने का चक्र सदा चलता रहता है। मिथ्या गर्व और शान में ही संहार हो जाता है। जिनके भोजनादि की व्यवस्था में ही प्रश्न वाचक चिह्न लगा होता है, उनका गर्व में भरा रहना, अहमम्यता में डूबा रहना तथा एक दूसरे को नीचा दिखा कर पेट का पानी पचाना सचमुच हास्यास्पद है। अपनी शारीरिक मानसिक शक्ति का वह भाग जो मुकदमा चिन्तन में व्यय होता है, यदि वे अपनी दशा सुधारने में लगाते तो उनके बल उनका बल्कि देश का भी कल्याण होता।

आमदनी और खर्च का व्यवस्थित ब्यौरा किसानों के पास नहीं होता। अतः वे रूढ़ि अथवा परम्परा से समर्पित ऐसे बहुत से काम कर डालते हैं जिनमें व्यय आँख मूँद कर होते हैं। तिलक-जनेऊ-विवाह-जन्म और मरण ऐसे ही अवसर हैं। मार-पीट, मुकदमा और फौजदारी भी उसी अवसरों में गिने जाते हैं। जिसकी आय वार्षिक पाँच सौ रुपया होती है वह भी ५ बीघा खेत बेंचकर एवम् पाँच हजार रुपया फूँक कर मुकदमा लड़ देने का जोश रखता है। पीछे से दाद देनेवाले दो हैं। एक भगवान के भक्त और दूसरे महाजन। देनेवाला और करनेवाला भगवान है तो फिर चिन्ता क्या? महाजन को तो सदा पौ बारह है। गाँवों में धर्म और दर्शन का छीछालेदर देखते ही बनता है। पाँच सौ की जगह पाँच हजार फूँकने वाले का अभाव दूर करने की भगवान को क्या गरज पड़ी है? क्या वह भगवान के नाम पर खर्च करता है? वह तो शुद्ध शान गुमान से प्रेरित होकर आग में पैर डालता है। असल में भगवान न दिखाई देने वाली एक ऐसी महान सत्ता है कि बात-बात में जहाँ चाहें घसीट लेते हैं। किसी गरीब के घर दो एक आदमी मर जायँ। दो-एक पैदा हो जायँ और एक-दो की शादी पड़ जाय और दुर्भाग्य-वश वह कुलीन है तो सौ-दो सौ वर्षों के लिए उस परिवार का स्थायी दिवाला निकल गया,

ऐसा समझना चाहिए। यह युग अर्थशास्त्र का है, धर्मशास्त्र का नहीं। इसे गाँववाले नहीं समझते। रहने का मकान खँडहर हो गया है, भूत खाना हो गया है। दो-चार सौ रुपया व्यय करने पर वह आदमी के रहने योग्य हो जायगा। पर इसकी चिन्ता नहीं। बबुआ के जब हाथ पीले होंगे तो चार-छः सौ मोटे मुस्टंडे लोगों को खिला पिलाकर तथा जगह-जमीन बेचकर हजार दो हजार पर पानी नहीं फेर लेंगे तब तक जी का काँटा कैसे निकलेगा? और इस जी के काँटे निकालने में यह ध्यान में नहीं आता कि बधू को लाकर कहाँ रखेंगे?

ऐसे भी किसान हैं जिनका भूसा असाढ़ मास में समाप्त हो जाता है और सावन चढ़ते चढ़ते अपनी उदरदरी भरने के लिए ऋण की खोज में निकल पड़ते हैं। सबसे दुखदायी बात होती है, मवेशियों के लिए चारा न रह जाना। स्वयं एक दो समय उपवास करके भी व्यतीत किया जा सकता है परन्तु उन मूक निरीह पशुओं के सामने तो कुछ न कुछ डालना ही होगा। ये मजबूत खूँटे पर मोटी रस्सी में बाँधकर रखे गए हैं। स्वयं इन्हें अपना चारा खोजने नहीं दिया जाता। तब परम आवश्यक हो जाता है कि इन्हें चारा-दाना एवम् पानी से सन्तुष्ट किया जाय। किसान के लिए यह एक धार्मिक कृत्य है। जिस दिन उसका मवेशी उपवास करता है, वह अपने को मरा हुआ समझ लेता है। अतः ऐसे किसानों का, जिनका भूसे वाली कोठी असाढ़ चढ़ते ही झनझनाने लगती है, विपदा का अन्त नहीं। दूसरी बात यह कि वे स्वयं खाते-पीते हैं या उपवास करते हैं, इसे कौन जान पाता है? किन्तु गौओं के सामने यदि चारा नहीं जायगा तो सारी दुनिया देखेगी और उसके नाम पर थूकेगी। जो गौओं को कष्ट देता है उसे कसाई कहा जाता है। जब विवशतः किसी किसान को यह कसाई की उपाधि धारण करनी पड़ती है तो समझा जाता है कि उसका विधाता रूठ गया।

विपदा का अन्त यहीं नहीं होता। कहा गया है न कि सावन में अन्न समाप्त हो जाता है। एक कहावत भी है कि सावन में सुग्गा भी उपवास करता है। यह कहावत उन भाग्यहीनों के लिए ठीक उतरती है। सुग्गा एक निर्बल प्राणी है। मुक्त आकाश में विचरण करने वाला जीव है। इस भरी सृष्टि के बीच उसे भी उपवास का आश्रय लेना पड़ता है तब घर गृहस्थी के जंजाल में जकड़ा मानव किसान किस गिनती में हैं? इस कहावत में एक और बात है। सावन का महीना पावस की सीमा है। रात दिन पानी पड़ता है। बलहद भीम, वर्षा हद सावन मशहूर है। ऐसे में ईंधन भी एक जटिल समस्या है। इसकी कमी के कारण भी सावन में उपवास होने लगते हैं, लोग बरसात में पानी का आनन्द लूटते हैं। कजरी गाते हैं। चौपायों पर बैठकर ढोल की गमक का सुख लूटते हैं। ऐसे में गाँवों के भीतर कहीं कहीं सामूहिक उपवास की परिस्थिति तक आ जाती है। कहने-सुनने में यह बात मन में नहीं धँसती, पर है परम सत्य कि गाँवों में किसान के घर कभी-कभी ऐसा कुछ नहीं होता कि भोजन बने।

प्रथम तो उपवास इस लिए होता है कि अन्न समाप्त हो जाता है। इस अन्न समाप्त हो जाने में बहुत सी बातें होती हैं। वह वर्ग जो मजदूरी पर ही जीवित है, परता ही कितना है? और फिर सावन में मजदूरी क्या करे? वह वर्ग जो अनाज का स्वामी होता है खलिहान में ऋण, उधार और सेठ साहूकारोंके सामने घुटने टेक देता है। ये निर्दयी उसका सब लेकर भी पूरा नहीं बोलते। दूसरे उपवास का कारण होता ईंधन का अभाव। ऐसा अभाव मजेदार भी होता है। तीसरे उपवास होता है इस लिए कि सारा घर वर्षा की मूसलाधारों से चू रहा होता है। रसोई बने तो कहाँ? चौथा उपवास चलता है, कहीं घर वर्षा से लड़ते-लड़ते हार गया और धराशाई भी हो गया। तब यह सब चलता है। यह विचित्र संसार है न? एक से एक कनमोहक और रमणीय दृश्य हैं

तो एक से एक वीभत्स और रोमांचक चित्र भी हैं। वर्षा में खेत की मेड़ पर से गुजरता हुआ यात्री धान रोपने वाली कृषक की ललनाओं की सुरीली और मद भरी कण्ठ लहरी सुनता है, तो चित्र लिखा सा रह जाता है परन्तु उसे क्या पता कि रोटी का प्रश्न वाचक चिह्न इनके सामने सदा खड़ा है ?

विपन्नता का यह नग्न चित्र देखकर ऐसा ज्ञात होता है कि किसान बिना किसी भेदभाव के श्रम करता है और उसका पेट नहीं भरता। बात ऐसी नहीं हैं | काम में भी ऊँच नीच की शृंखलाएहैं। सभी सब काम नहीं करते। काम के आगे जाति बिरादरी का, इज्जत आबरू का झमेला खड़ा रहता है। ऐसे भी लोग हैं जो भूखों मर जायेंगे पर छोटा मोटा काम, जो मजदूर करते हैं, नहीं करेंगे। ये आन पर कुर्बान हो जाने वाले लोग होते हैं। अपनी गरीबी से ये शिक्षा ग्रहण नहीं करते। अपना काम करने में शर्माने वाले और किसान के घर जन्म लेकर बाबू-आयी का सपना देखने वाले ही कालान्तर में संसार के द्वारा अपनी हँसी कराते हैं, क्रान्ति मत मर्यादा भी एक फन्दा है। ब्राह्मण के घर जन्म लेकर भीख माँग सकते हैं परन्तु खेतों में मजदूरी नहीं कर सकते। हल चलाना तो नीचों का काम है। आलस्य और प्रमाद की सीमा है कि घाघ की यह कहावत लोग कहते अघाते नहीं कि "उत्तम खेती जो हल गहा' और आचरण ठीक इसके विपरीत रावते हैं। घाघ ने तीन प्रकार के किसान बतलाए। प्रथम कोटि का वह है जो स्वयं हल चलाता है। जिसे अपनी खेती के प्रति ममता होती है। जो उसे जीविका या व्यवसाय समझता है। उसे बनाने सँवारने में अपना स्वास्थ्य, हर्ष और जीवन का उत्थान समझता है। दूसरा वह है जो हलवाहे से खेती कराता है पर उसके साथ रहता है। यह दूसरे पर निर्भर रहता है पर साथ रहने में इसका प्रेम और जीविका के साधन के प्रति सतर्कता प्रगट होता है। तीसरे प्रकार के किसान ? वे हैं जो

यह भी नहीं जानते कि आज हल कहाँ चल रहा है ? ऐसे ही किसान जमीन के भार स्वरूप होते हैं। स्वयं खाने बिना मरते हैं और दूसरों को भी मारते हैं। यही नहीं, अपने बेटों के लिए भी अपनी आलसता का यह आदर्श छोड़ जाते हैं। उनकी आरामतलबी का अनुकरण किसी पड़ोसी ने भी किया तो और सर्वनाश हुआ। बुराई आदमी जल्दी सीख जाता है। भलाई को सीखते-सीखता है। दुर्भाग्यवश ऐसे भी कमासुत लोग बड़े गर्व से यह कहते पाये जाते हैं कि "खायेंगे तो गेहूँ नहीं रहेंगे येहूँ।" अर्थात् खाना या तो उत्तन खायेंगे या उपवास करेंगे। ऐसे ही कुछ पढ़े लिखे हुए तो 'ऋणं कृत्वा घृतं पीवते' तक पहुँच चायेंगे। 'अजगर करे न चाकरी' वाला दोहा तो इनका मन्त्र ही समझिए। गाँव, आज का गाँव इस प्रकार के जीवों से भरा पड़ा है। सारे विकास के साधनों में, स्वर्ग में, आनन्द के क्रीड़ा क्षेत्र में रहकर भी वह स्मशान सा अनुभव करता है, इसीलिए न ?

आजकल एक नवीन प्रवृत्ति का उदय दृष्टिगोचर हो रहा है। पहले गाँव वाले साधे होते थे। आज कपटी हो रहे हैं। पहले क्रोधी होते थे आज बैरी हो रहे हैं। पहले मन का मैल मुँह पर बात कहकर मिटा डालते थे परन्तु आज उसे पाल-पोस कर, अवसर देखकर बदले के रूप में चुकाते हैं। पहले लोग लड़ते झगड़ते थे और पुनः हिल-मिल कर रहते थे। आज कतर ब्यौंत होता है। काट छाँट की लड़ाई होती है। मन ही मन, भीतर ही भीतर जलन पैदा की जाती है। पहले मार का अस्त्र था लट्ठ पर आज का अस्त्र हो गया है कचहरी। कहीं हंगामा हो गया, दो-दो सौ, चार-चार सौ आदमी इधर-उधर आ डँटे। गरमा-गरम शब्द निकलते हैं। एक दल से दूसरे दल पर जैसे तोप का गोला छूटता है। जै-जैकार होती है। कुछ मन चले अपने-अपने दल में उछलते-कूदते हैं। कुछ जमीन पर लाठी पटक-पटक कर 'घी न खाया कुप्पा बजाया' वाली कहावत को चरितार्थ

करते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि अब हाथ छूटा, तब छूटा। अन्त में देखते हैं कि दोनों ओर के बुद्धिमान लोग झगड़ा निपटा देते हैं। अदालत का शरण लेने का सत् परामर्श देते हैं। पहले सुनते हैं कि ऐसे मौकों पर लाशें गिर जाती थीं। लाठी में से धुआँ निकलने लगता था। पर आज? गरजने वाले बादल की तरह इधर उधर दो चार गरज सुनाई पड़ी और बादल बिना बरसे ही तिरोहित हो गए। एक परम बुद्धिमान व्यक्ति ने बताया कि लोगों में अब मरदानगी न रही। अब लोगों का शरीर अत्यन्त ही कमजोर होता है। लाठी की मार की सहन शक्ति जाती रही। ग्रामीणों की शूर-पीढ़ी का चरम ह्रास हो गया। इसलिए लोग एक दूसरे पर अपना क्रोध दूसरे प्रकार से उतारते हैं। यदि धनी हैं तो कानूनी मार होती है। यदि जन बल वाले होते हैं तो खेत उखाड़ने वाली, बैल बछिया गुम करा देने वाली तथा घर खलिहान में आग लगवा देने वाली लड़ाई के अतिरिक्त सोते में या अकेले राह चलते में पिटवा देने वाला युद्ध शुरू करते हैं। यही नहीं घर में सुरंग खोदवाकर मूस लेना भी एक तरीका है। यदि गरीब और लाचार हुए तो भगवान के नाम पर प्रत्यक्षतया तो चुप लगा जायेंगे परन्तु छिपे हुये उनके शत्रुओं से मिलकर बदला चुकाने की ताक में रहेंगे।

इसका एक बहुत बुरा और अशुभ परिणाम यह हुआ है कि शत्रु-मित्र की पहचान लुप्त हो गई है। बाहर से सब हिले-मिले रहते हैं और भीतर शत्रुता का भयंकर विषधर नाग फुफुकारता रहता है।

एक तो किसान इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था के शिकार हो गए हैं कि इनका जीवन पशुवत हो गया है, दूसरे परस्पर के स्नेह सहयोग, सौहार्द और भाईचारे तोड़कर वे और भी दयनीय हो गए हैं। उसकी जीवन-प्रणाली ऐसी है कि वह बिना सहयोग के एक पग भी नहीं चल सकता। उसका धन तिजोरी ताले या कोठी में बन्द नहीं होता है।

वह खुले मैदान में बिखरा रहता है। उस पर निन्यानबे आपदाओं के चंगुल घहराते रहते हैं। एक आदमी उसकी रखवाली नहीं कर सकता। स्वयं अपनी रक्षा अपने खेत की देखभाल करने में किसान असमर्थ होता है। वे नहीं, उनका पारस्परिक सद्भाव खेतों की रक्षा करता है। एक ने दूसरे के खेत में घुसे हुए चोरों को खदेड़ दिया तो दूसरे ने पहले के खेत में पड़े हानि पहुँचाने वाले साँड़-भैंसों को भगा दिया। ये एक दूसरे को देख कर जलेंगे तो एक दो को नहीं, यह जलन सबको जलायेगी। आज हो भी यही रहा हैं। और तो और भाई भाई में मनमोटाव है। व्यक्ति व्यक्ति में वैमनस्य की ज्वाला धधकती है। एक का पैर फिसला तो दूसरा हँसता है। दूसरे पर ब्रजपात होता है तो पहले का जी जुड़ाता है और यह है कि दोनों के सर्वनाश पर सारा ज़माना हँसता है। यह क्रम लगा है। रात-दिन की भाँति सुख-दुख के दिन घूमा करते हैं। किसान की आँखें बन्द हैं जो देखता नहीं। सुख की सीमा को वह अकेले समेटने के प्रयास में ठगा जाता है। अकेले क्यों?

"कभी है हमारी बारी
कभी है तुम्हारी बारी
चलो भाई बारी बारी!"

एक प्राइमरी स्कूल के अध्यापक के दरवाजे पर उनके स्कूल के कुछ छात्र उपस्थित थे। उनमें गाँव के कोने कोने के छात्र थे: एक मास्टर साहब समाचार पत्र के पन्ने उलट रहे थे। अचानक उन्होंने कहा कि तुममें से कौन लड़का इस अखबार को सरपंच साहब के दरवाजे पर दे आयेगा? इसे अभी पहुँचा आना चाहिये। मैं पढ़ने के लिये एक घन्टे के करार पर लाया। और कई घन्टे बीत गए। कोई है जो उधर का है? छात्रों में हम-तुम होने लगा। प्रत्येक एक दूसरे को कहकर स्वयं जाने में आनाकानी करने लगा। एक ने कहा कि हमारे घर से उनके घर हाड़ है मैं कैसे जाऊँ? गाँवों में एक किसान परिबार से दूसरे किसान परिवार के बीच

उस समय 'हाड़' पड़ जाता है जब परस्पर मारपीट में किसी प्रकार किसी की जान चली जाती है। जिस प्रकार का व्यक्ति मारा जाता है वह मारने वाले के घर से 'हाड़' मानता है। वह उसके घर का या उसके परिवार वालों का छुआ पानी तक नहीं पीता। घर आना जाना बन्द हो जाता है। शादी-व्याह के समय सहयोग रुक जाता है। कभी कभी बातचीत भी नहीं होती। यह पुश्तैनी चलता है। इस प्रकार 'हाड़' का तात्पर्य हुआ वंशपरम्परागत शत्रुता। एक लड़के का उत्तर यह था। एक दूसरे ने बताया कि हमारे घर से उनके घर के लोगों से बराबर मारपीट और झगड़ा फौजदारी होती रहती है इसलिए मैं उनके दरवाजे पर नहीं जाऊँगा। वहाँ पर आदमी ऐसे हैं जो हमारी पट्टी के बालकों को देखकर जलते हैं। एक ने बताया कि उस महल्ले में हम कभी गए ही नहीं हैं। किसी ने मोटे रूप में यह बताया कि उनके घर से आवा-जाही नहीं है। अन्त में एक 'छात्र' हुक्मी तौर पर भेजा गया।

दुर्भाव, वार्थक्य और असद्भाव केवल बड़ों में ही नहीं वल्कि छोटे-छोटे बालकों की नसल में विष की तरह घुल गया है। इस बीज को बड़े-बूढ़े लोग बोते हैं। अपनी रहन-सहन, वार्तालाप और क्रियाओं द्वारा ही नहीं प्रत्यक्ष शिक्षाओं द्वारा भी वे बालकों को द्वेष के पथ पर ले जाते हैं। सिखाते हैं कि किस-किस व्यक्ति से कौन-कौन सी अदावत है। किस-किस व्यक्ति से कौन-कौन से झगड़े हैं। इसका विस्तृत सूची बालकों के मस्तिष्क में बैठ जाता है। अशोक ने बौद्ध धर्म क्यों ग्रहण किया, इसे पढ़ने वाले लड़के भले न याद रखें पर यह तो उन्हें सही सही याद रहता है कि अमुक ने अमुक मुकदमे में हमारे पिता के खिलाफ गवाही दी अतः वह हमारे परिवार का बैरी है। परिणाम यह होता है कि बड़े लोगों की भाँति बालक भी अपने परिवार के दुश्मन के घर नहीं जाते। उत्सव त्यौहार या किसी विशेष अवसर पर बड़े लोग रस्मी तौर पर शत्रु के दरवाजे पर जाते भी हैं तो बालकों को मनां कर देते हैं।

प्राचीन ग्रामीण आदर्श ठीक इसके विपरीत था। बालक सबके हैं। वे सबके स्नेह भाजन हैं। उनका राज्य प्रेम-सरलता पूरित' और छल छन्द विरहित होता है। वे स्वच्छन्दता से सर्वत्र जा सकते हैं। उनके प्रति कोई व्यक्ति मन में खोट नहीं रखता। वे किसी से द्वेष नहीं मानते। काका-भैया-दादा और बाबा आदि सम्बोधनों से वे सबका स्नेह और आशीर्वाद अर्जन करते हैं। उन्हें क्या पता कि कौन शत्रु है और कौन मित्र। पारिवारिक शत्रुता के बीच वे स्नेह की मधुर कड़ी होते हैं। गाँव की गलियों में, मुहल्लों में, रास्तों पर, दरवाजों पर सर्वत्र वे आनन्द करते हैं। न कोई रोकटोक न दुराव। वे अपने बाप को जितने प्यारे हैं उतने ही बल्कि उससे भी बढ़कर अपने बाप के दुश्मन को दुलारे हैं। गाँव भर की स्त्रियाँ उनकी माँ-बहन और पुरुष बाप-भाई हैं।

हम अमुक के दरवाजे पर नहीं जाते। हम अमुक से नहीं बोलते हम अमुक की परछाईं से भी बचते हैं। हमारा और अमुक व्यक्ति के घर से खानपान का सम्बन्ध नहीं है। हम अमुक व्यक्ति के खान्दान का छुआ पानी नहीं पीते क्योंकि दो सौ वर्ष पूर्व उसके किसी पूर्वज ने हमारे किसी पूर्वज को मार डाला था। फलाँ मेरे शत्रु का मित्र है। अतः हमारी उसकी बोलचाल बन्द है। फलाँ मेरे मित्र का शत्रु है अतः मेरा उसका सम्बन्ध—मैत्री सम्बन्ध—विच्छेद हो गया। यदि ऐसा न होता तो मेरा मित्र जो बलवान है बुरा मानता। इसी प्रकार मेरे शत्रु का बलवान शत्रु मेरा मित्र हो गया। जब कि यह मेरा भी शत्रु था। हमारे घर से फलाँ के घर पुश्तैनी अनबन है। हम लोग सदैव एक दूसरे को सतर्क दृष्टि से देखते हैं। फलाँ ने मेरे ऊपर अदालत में गवाही की है। आदि आदि।

शत्रु-मित्र का यह बेढब प्रपंच जाल आज गाँव के उस सरल निर्मल

जीवन को आच्छादित किए हैं जो अपनी स्वर्गीयता के लिए न केवल देश में स्पृहणीय समझा जाता था बल्कि विश्व में वरेण्य था और उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की जाती थी।

कुछ लोगों का ख्याल है और यह ख्याल किसी सीमा तक दुरुस्त है कि ये सारे उपद्रव हमारे आधुनिक न्यायालयों के भीतर पैदा होते हैं तथा जो लोग वहाँ जाते हैं इन्हें उपहार स्वरूप लाते हैं। हजारों गाँवों के बीच में एक शहर है। वहाँ असंख्यों की जीवन प्रणाली को प्रभावित करने वाली, कुछ विजातीय मान्यताओं वाली कचहरियाँ हैं। सीधे-सादे ग्रामीण वहाँ जाते हैं। अपने साथ वे अपनी सरलता, साधुता, सत्य प्रियता, न्याय बुद्धि, सद्भावना, सहिष्णुता और सहयोग वृत्ति को लेकर जाते हैं। उधर से इन्हें बेचकर कुटिलता, कुविचार, दुर्भाव, तिकड़म, चोरी के साथ सीनाजोरी, फूले फूले घर आते हैं। ये इन विभूतियों को अपने तक सीमित नहीं रखते। इन्हें गली में बिखेरते हैं। जन जन के मन में स्थापित करते हैं। इनका प्रयोग करते हैं। दूसरों को सिखाते हैं। रास्ता दिखाते हैं। ऐसी दवा बता देते हैं कि सभी शठता को ही दवा मानने लगते हैं। दल बनते हैं दल बन्दी होती है। शत्रु-मित्र के अखाड़े बनते हैं। गुपचुप बातें होती हैं। साँय-साँय, फुस-फुस, गहकर, जमकर मशविरे होते हैं। मदद देनेवाले राम ही नहीं, कचहरियों में चारा तलाशने वाले 'सज्जन' लोग भी हैं। रही-सही कसर गाँव के तिकड़मी सरदार और निठल्ले बैठक बाज लोग पूरी कर देते हैं।

ऐसा भी देखने में आता है कि आपस की यह शत्रुता औरतों और बालकों के भीतर भी दलबन्दी करा देती है। ऊपर बड़े लोगों में अपने अपने पक्ष हैं और बीच में उसी हिसाब से औरतों की पार्टियाँ हैं तथा नीचे बालकों में वैसे ही क्रम से अपना अपना संगठन है। आलोचनाएँ होती हैं, शिकायतें की जाती हैं, बुराइयों का उद्घाटन होता है और

बात बढ़ी तो चुन चुनकर गालियाँ दी जाती हैं। स्कूल जाने में, खेलने में बैठने में सर्वत्र इसे देख सकते हैं। जहाँ दस औरतें बैठी हों, वहाँ भी इस कटुता का परिचय मिल जायगा।

एक भीषण ऐंठ है जो किसान के पल्ले पड़ गई है। वह अपने सामने किसी को कुछ समझता ही नहीं। उसके सामने सभी तुच्छ हैं, नाचीज हैं। ऐसी ऐंठ वाला कृषक किसी सीमा तक अपना स्वार्थ सिद्ध कर धनीमानी हो सकता है। परन्तु उससे समाज के अभ्युदय की कामना करना व्यर्थ होगा। दमदार लोगों की ऐंठ कुछ सार्थक लगती है परन्तु चौबीस घण्टे ऐंठ में भरे हुए लोगों में ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हें वस्त्र और भोजन के लिए भगवान का ही भरोसा होता है। इन्हें देखकर तरस आता है।

ऋण लेकर जलसा करना, वाहवाही लूटने के लिए सर्वस्व की बाजी लगाना, कचहरियों में जाकर रुपए की क्रीड़ा दिखाना, गिगड़ैल बैलों की तरह सींगों से दूसरे की लिपी पुती दीवालों को ढहाते चलना, एक दूसरे से बोलने तक में अपनी हेठी समझना ? खाने पीने की तो बात ही दूर है, एक दूसरे के दरवाजे पर झाँकने जाने तक में भी अपनी हीनता मानना ये सब ग्रामीण ऐंठ के नमूने हैं। काम न करना और उपवास करना। तनिक में लक्खू साहु बनकर रूपया फूँकना और तनिक में भिक्खू राम बनकर हाथ पसारना। यह भी ऐंठ ही है। ऐंठ गरीबों को ऐंठ देती है। वे पसर या पनप नहीं पाते। कुछ सीखते नहीं। सुधरते नहीं। उनकी ऐंठ जन्य वैमनस्य, पार्थक्य और संघर्ष से लाभ उठाते हैं देश के बुद्धिमान लोग। ऐसे बुद्धिमान लोग जो श्रम की दृष्टि से निठल्ले हैं। रात दिन खून पसीना एक कर कमानेवाले एक दूसरे को नीचा दिखाने में रसातल चले जाते हैं। उनकी कमाई कहाँ जा रही है यह देखने भर का न तो उनके पास अवकाश है और न ऐसी बुद्धि ही है। काफी रुपया लगाकर एक मुकदमा लड़ा गया।

एक पक्ष ने तो प्रण किया था कि अपने प्रतिद्वन्दी को नीचे-ऊपर रखकर फूँक देंगे। १० वर्ष तक मुकदमे की शाखाएँ गईं। जब वादी-प्रतिवादी सर्वनाश को प्राप्त हो गए तो मुकदमा भी समाप्त हो गई। किसी ने पूछा कि जीत किसकी हुई ? इस पर उत्तर मिला कि:—

"हारे मुअक्किल;
जीते वकील।"

"ना बाँड़ा का खेती बारी..."

गाँव का वातावरण एक ओर जहाँ कठोर श्रमिक पैदा करता है तो दूसरी ओर पहले दरजे के आलसी व्यक्तियों की भी सृष्टि करता है। एक तरफ एक आदमी इतना श्रम करता है कि दाँत से पसीना छूटने लगता है। दूसरी तरफ एक आदमी के लिए बैठे-बैठे मक्खी मारने के अतिरिक्त दूसरा कुछ सूझता ही नहीं। काम करने के लिये क्षेत्र नहीं है, सो बात नहीं मन ही मन कुछ और प्रकार का हो जाता है। वह शरीर को हिलाने-डुलाने में या तो कष्ट का अनुभव करता है या शर्म का। आँख पसार कर देखें तो स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होगा कि इतना श्रम करने पर भी किसानों के लिए भोजन का ठिकाना नहीं है तो उन्हीं के देश में बेकार रहकर उदर पूर्ति का होना आकाश कुसुम नहीं तो और क्या है ? कोई बहुत बुद्धिमानी का काम, विद्या के चमत्कार का, या हस्तकौशल कार्य गाँवों में न भी करें, केवल मोटे-मोटे कामों में ही कुछ समय दें तो अपनी और समाज की कुछ भलाई हो जायगी। लेकिन बुद्धि पर ऐसा पाला पड़ा कि वह पनपती ही नहीं। बेकार और निठल्ले गाँवों में अपना साढ़े तीन हाथ का लम्बा-चौड़ा शरीर लिए घूमा करते हैं। इधर की बातें उधर और उधर की बातें इधर किया करते हैं। तूम्बा फेरी ही इनका व्यवसाय है। ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके एक कहावत कही जाती है:—

"ना बाँड़ा का खेती बारी, ना बाड़ा का जोइ,
थपरी बजावे बाँड़ा, पहपटि होइ।"

अर्थात् वह बाँड़ (स्वच्छन्द) व्यक्ति, जिसके परिवार में कोई नहीं रहा, खेती तो करता है नहीं और न उसकी स्त्री ही है कि घर-गृहस्थी के बन्धन में मर्यादित जीवन व्यतीत करे। वह देखो अपनी मस्ती में वह परम स्वतन्त्र होकर ताली बजाता रहता है और चलते गाना गाया करता है।

जिस युग में खाने-पीने का अभाव नहीं था। आबादी कम थी। पैदावार अधिक होती थी। उस युग में ऐसे बेकार और निठल्ले प्राणियों की भी गुजर हो जाया करती थी। ऐसे व्यक्तियों से ग्रामीण अपना मनोरञ्जन किया करते थे। मगर अब ऐसे कहाँ निभ पाती है? अब तो दाने के लाले पड़ गए। अन्न की कुछ कीमत हो गई। ऐसे युग में ये अभागे मानव भार ही हैं। यदि गणना की जाय तो ऐसे बेकारों की टोली प्रत्येक गाँव में मिलेगी। दूसरे तो किसान को लूटते और चूसते ही हैं, अपने लोग भी उसकी कंगाली में आटा गीला करने के लिए प्रेम से गले पड़े रहते हैं। किसान के उत्थान के लिए इनका प्रबन्ध करना होगा। व्यक्तिगत रूप से कोई आलसी या बेकार है तो क्या? उसका फल वह भोग रहा है। दूसरे को क्या? काम करने वालों को उनसे शिक्षा ही मिलती है। लेकिन सामाजिक दृष्टिकोण से कोई आलसी या बेकार है तो वह समाज रूपी शरीर के ऊपर एक जबरदस्त घाव है। सारे शरीर में उसका विष प्रविष्ट हो सकता है। सारे समाज के स्वास्थ्य के लिए उसके एक-एक अंग को नीरोग करना पड़ेगा। एक ही मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है। जिस तालाब में गन्दगी को निमंत्रण देने वाली अगणित मछलियाँ हैं, उसका तो भगवान ही मालिक है! आलस्य और अकर्मण्यता से व्यक्तिगत प्रयत्न काफी है। सामाजिक रूप से इसे पाप समझकर तिरस्कृत किया जाय। समाज के सब बेकार जो हाथ पैर नहीं चलाते भोजन के अधिकारी नहीं हैं। इन्हें भिक्षा देना इनकी दुर्बुद्धि को प्रोत्साहन देना है। इन्हें काम करने के लिए बाध्य

किया जाय। एक तरफ धरती का सोना धरती से निकाले बिना रह जाता है। दूसरी तरफ करोड़ों हाथ जैसे दही जमाए पड़े हैं। आश्चर्य है!

सबसे भीषण समस्या बेकारी की है। किसानों के देश में यह एक साधारण बात है कि एक कमाने वाला है और चार बैठकर खाने वाले हैं। देखने में लगता है, जैसे काम तो सभी करते हैं, बेकार कोई नहीं है। वास्तव में चार उतना ही काम करते हैं जितना एक के लिए पर्याप्त है। काम भी प्रायः काम चलाऊ ही होता है। प्रथम श्रेणी का लाभ-कर काम जिसे उद्योग अथवा श्रम की संज्ञा दे सकें, कम किसान करते हैं। गणना करके यह बात निश्चित रूप से सिद्ध हो चुकी है कि किसान साल के चार महीने में बेकार रहता है। इस बेकार समय में वह तरह-तरह की खुराफात सोचता है। तिकड़म का मकड़जाल तानता है। गप्प हाँकता है। हुक्का पीता है या सोता रहता है। गाँवों में पहले कपास बोई जाती थी। घर-घर चरखा चलता था। कितने घरों में चरखे की जीर्ण-शीर्ण अस्थियाँ अब भी पाई जाती हैं। कितनी बड़ी-बूढ़ी माताओं को अब भी दो-चार हाथ उस सुदर्शनचक्र को संचालित करने स्मरण हैं। अब वह युग स्वप्न हो गया। क्यों? इसका एकमात्र उत्तर आलस्य है। ज्वार अगहन में साफ हो जाता है। अरहर फाल्गुन-चैत में काट ली जाती है। खेती का काम सीमित हो जाता है। इसी के लगभग कपास का फूल चुना जाता है। धूप में कड़े परिश्रम के डर से किसान उसे नहीं बो रहे हैं। उसकी चलन ही पूर्वी जिलों में न रही। एक ईख है जिसे गरमी में पानी देते छठी का दूध याद आ जाता है, अब यह दूसरी बला कौन मोल ले? आज का किसान परिश्रम का काम धीरे-धीरे छोड़ता चला जा रहा है। उसे बेकारी स्वीकार है। भुखमरी शिरोधाय है किन्तु श्रम के पास जाने के लिए वह प्रस्तुत नहीं। परिश्रम करने वाले हैं और इसमें 'अति' करने वाले भी हैं परन्तु

कितने ? चार में एक । शेष तीन वही बम्भोला ! गाँव के इन बेकारों में से कितने तो चलते पुरजे के आदमी हो जाते हैं । इन्हीं में से वे लोग भी होते हैं जो कचहरियों की सरसता बनाए रखते हैं । शहर के होटलों को अपनी बक-बक से मुखरित रखते हैं । कितने तो पहलवान ही हो जाते हैं । चार आदमियों के बराबर खाना और आधे आदमी के बराबर भी न कमाना ।

बेकारों में स्त्रियों की संख्या अधिक है । छोटी कौम वालों की स्त्रियाँ पुरुषों के साथ श्रम करती हैं किन्तु बड़े घरों की औरतें परम बेकार होती हैं । दिन भर झगड़ा करती रहती हैं या चिलम-तमाखू सहेजती रहती हैं । गाँवों में स्त्रियों का वाग्युद्ध देखने ही योग्य होता है । अविराम गति से काव्य-धारा की भांति गाली गलौज की धारा बहती है । ऐसे समय बड़े-बड़े धीरों का भी धैर्य छूट जाता है । बेकारी से झगड़ा ही नहीं, नाना प्रकार के अवगुण पनपते हैं । इस बेकारी की कोख से निकम्मी आदतें पैदा होती हैं । बड़े घर की ललनाएँ तो अपना निजी काम भी नहीं कर पातीं ।

यहीं से बेकारी अपव्यय पैदा करती है । आज किसान के घर का कपड़ा सीने के लिए दर्जी के पास जाता है । औरतें अपना कपड़ा भी नहीं सी लेतीं । आटा कल में से पीस कर आता है । बिछौना क्रय होता है, चाहे वह दरी हो चाहे तो तोशक । घर के बर्तन डलिया आदि भी बाजार से आने लगीं । आखिर ये औरतें दिन भर करती क्या हैं ? कपड़े सीने का काम उनका है । आटा अपने हाथ से चक्की में पीस कर परिवार को खिलाने तथा स्वस्थ बनाने का दायित्व उन पर है । फटे-पुराने कपड़ों को सँजोकर बिछौना बनाना उनकी पुरानी कला है । रंग-बिरंगी डालियाँ और बक्स निर्मित करना उनकी परम्परा है । आखिर इस हस्तकला, श्रम और जीवन की प्रणाली छोड़ कर वे कहाँ जा रही हैं । एक सद्‌गृहस्थ ने अपने परिवार की स्त्रियों का जो वर्णन

किया वह स्पृहणीय है। कूटने और पीसने का श्रम उनके शरीर के अंग प्रत्यंग को कस देता है। उनमें आकर्षक उभार देता है। स्त्रियाँ व्यायाम के नाम पर दण्ड-बैठक नहीं, यही कूटने पीसने का काम करती हैं। उनका छरहरा शरीर दमकता रहता है। अधिक दिनों तक जवानी सुरक्षित रहती है। बैठी रहने वाली स्त्रियाँ अल्प समय में ही थलथल होकर स्फूर्ति रहित हो जाती हैं।

किसान की स्त्री भारतीय उद्योग के मेरु दण्ड स्वरूप रही। आज उसका रूप आमूल परिवर्तित हो गया है। अचरज नहीं वे कुछ दिन बाद भोजन बनाना भी छोड़ दें और एक युग की गुलामी को एक बार ही झाड़-फटकार कर पूर्ण स्वच्छन्द हो जायँ। कुछ नए युग की नारियाँ जो संयोगवश गाँवों में भी छिटपुट उत्पन्न हो जाती हैं, स्वेटर आदि बुनती हैं। यहाँ तक तो प्रयास स्तुत्य है परन्तु ताश, पान, बीड़ी और सिगरेट आदि की बान लगाना तो सर्वथा अक्षम्य है।

किसानों के सरल संसार पर विलासिता का माया-जाल शनैः शनैः बिछता चला जा रहा है। काम कम करना और उपभोग की वस्तुओं में चमक चकाचौंध खोजते फिरना यही विलासिता है। बड़ी बातों को छोड़ दें तो इस अपनी सीमित परिधि में। छोटी दुनिया में, किसान अपनी सीमित विलासिता की भावना से प्रेरित होकर अपव्यय करता है। यह अपव्यय अधिकांश में अपने अवकाश के क्षणों का समुचित उपयोग न करने के कारण होता है। अपनी चारपाई के लिए किसान सुन्दर से सुन्दर रस्सी तैयार कर सकता है। वह मजबूत के साथ सुखप्रद भी होती पर इसके लिए वह सीधे बाजार की ओर दौड़ता है। गृहस्थी के सामान, खेती की आवश्यक वस्तुएँ तथा दैनिक जीवन में व्यवहृत होने वाली वस्तुओं के लिए वह बाजार ही की शरण लेता है। यहाँ तक कि यदि बिकें तो किसान अपनी लाठी भी अब खरीदेगा ही। खाने-पीने का तम्बाकू खरीदता है। आसानी होती है। कौन बनाने का

कष्ट करे ? कुछ पैसे-आने या रुपये खर्च कर देने से चीजें आसानी से मिल ही जाती हैं। उन्हें क्या पता कि वास्तव में उनका आय क्या है ? साग-सब्जी के लिए तो किसान पूर्णतः परावलम्बी हो गया है। ये वस्तुएँ उसके लिए प्रायः दुर्लभ हो गई हैं। बरसात में किसी पुरुषार्थी ने अपनी खपरैल पर दो-चार बाँस इधर-उधर लगाकर बरसाती तरकारियों की बेल लगा दी। इस पर उसकी तारीफ की जाती है। ऐसा नहीं कि आलस्य छोड़कर वैसा सब करें। जमीन की कमी कहाँ ? कमी है श्रम की। बरसाती सब्जियों के समाप्त हो जाने पर गाँवों में पैसा व्यय करके भी सब्जी नहीं मिल पाती। किसान तरकारियाँ खाते भी कम हैं। त्यौहार पर या किसी अतिथि के आ जाने पर बात कुछ और होती है। जीवन के पोषक तत्व किसान को नहीं मिलते। चालीस वर्ष के बाद उनकी आँखों की रोशनी जाती रहती है। जवानी में ही केश सनकुट हो जाते हैं और पचास पहुँचते-पहुँचते दंत पंक्तियाँ भोर की तरई हो जाती हैं।

उसी प्रकार की चोरियाँ जिसके लिए शहर कुख्यात थे, आज गाँवों में भी फैल गई हैं। देवालय तक वंचित नहीं हैं। होली का पवित्र त्यौहार है। सारा गाँव मस्ती में मंदिर पर गा रहा है, बजा रहा है और रंग ले रहा है। बाहर देहली पर सभी के जूते पड़े हैं कितनों का मन फाग से उचट कर जूते पर जुट गया है। बड़ी सावधानी के पश्चात् भी कितनों के नए-पुराने जूते बिना रसीद के मनीआर्डर हो जाते हैं। चोर-साहु की पहचान भी लुप्त हो गई है। 'तसलिया तोर कि मोर' वाली कहानी में छल नहीं रहा। उसमें प्रगट शूरता का एक कुतूहल था। आज ऐसी बात नहीं। कोई चीज बाहर पड़ी है, ऐसा ज्ञात होता है कि उसमें पंख लगाए और देखते ही देखते अन्तर्धान हो जाती है। कुँए पर रस्सी पड़ी है, पानी लेकर घर गए, दूसरी बार लौटकर आए तो देखा कि डोर गायब ! अतिथि आए हैं। भोजन करने घर गए तो बाहर

छाता गायब ! ईमानदारी और सचाई जैसे घोलकर पी गए हैं। इन्सान की शकलों में हैवान गली-गली घूमते हैं। रात-रात भर घूमते हैं। बाहर से गोटी नहीं बैठी तो भीतर से मूस लेते हैं। कच्ची-पक्की दीवार सेंध लगाकर तोड़ दी जाती है। गाँवों में आज पेशेवर चोर पैदा होने लगे हैं छोटी-मोटी वस्तुओं की बात नहीं, बैल तक गुम हो जाते हैं। फसलों की चोरी तो एक आम बात है। छोटे-छोटे बच्चों तक को चोरियाँ सिखाई जाती हैं। कहते हैं कि लोग जमाना ही ऐसा हो गया है। भलेमानुसों का कहीं गुजर नहीं। सचाई और ईमानदारी चाहने वाले जंगल में जायँ। सच है, गाँव का सरल, अकलुष, मृदुल, निष्कपट, स्नेहमय और धर्ममय वातावरण शनैः शनैः कुटिल, कठोर, छलछद्म-पूर्ण और कपट चातुर्यमय अधार्मिक होता चला जा रहा है। स्वच्छन्दता बेहद बढ़ती चली जा रही है। धर्म का शासन उठ गया है। अब मुखिया-चौधरी की भी शान या शाख न रही। चोरियाँ छिपकर नहीं, खुलेआम होती हैं। कोई जबान नहीं खोलता कि कहीं उसी पर न आ बीते ! स्वार्थमय बुद्धि हो गई है। चोर अपकारी, गुण्डे और बलवानों की तूती बोलती है। सरदारी, रईसी और मानवता को तिलाञ्जलि दे दी गई है। ईमानदारी की नहीं चोरी की धारा में अधिकांश डुबकी लगाते हैं। पतन की पराकाष्ठा है कि स्त्रियाँ और बच्चे तक चुराए जाते हैं और रुपया लेकर दिए या लौटाए जाते हैं। दानवी विभूतियाँ गाँवों में हाथ-पैर पसार कर दिनदहाड़े अकाण्ड-ताण्डव करती हैं और समझदार आदमी भी जबान बन्द किए सब देखा करते हैं। बीसवीं शताब्दी ने बर्बरता का अंश न केवल नगरों में बल्कि गाँवों में भी बिखेर दिए। शहरों के शिक्षित जन लूटपाट करते हैं और देहात के अशिक्षित मानव ! विपरीतता यह कि ये देहाती किसी न किसी प्रकार आपसी झगड़े फसाद को लेकर उन्हीं शहर वालों के पास पहुँचते हैं। ये आपस में लूटमार करते ही हैं तीसरे के यहाँ पहुँचकर भी बुरी तरह, निर्दयता-

पूर्वक लूटे जाते हैं। अभी भी गाँवों के रक्त में पुराने स्नेह और सौहार्द्र का बीज अवशेष है। शिक्षा के द्वारा उसे विकसित किया जा सकता है। प्रकृति ने जिस उदारता के साथ अपना समस्त-समस्त वैभव वहाँ बिखेर दिया है। उसी प्रकार मानवता के उच्चादर्श भी आसानी से वहाँ पनपने का दिव्य क्षेत्र प्रदान किया है। गाँव वालों की एक बार आँख खुल जाय। वे अपनी महानता से परिचित हो जायँ तो पुनः सारी विरोधी प्रवृत्तियों की जड़ कट जाय।

चोरी की ही भाँति व्यभिचारादि की भी समस्या है। स्वस्थ प्रद का आदर्श लुप्त होता जा रहा है। माँ-बाप शादी ब्याह के ठेकेदार हैं। उनके सामने तिलक, गहना, परिस्थिति, मर्यादा, दबाव और क्या-क्या वस्तुएँ होती हैं। परिणाम यह होता है कि नब्बे प्रतिशत अनमेल विवाह होते हैं। युवक-युवतियों का मानसिक स्तर शिक्षादि के अभाव के कारण निम्न कोटि का होता है। प्रकृति उन्हें सारल्य, मृदुला, हास, उल्लास और उमंग की शिक्षा देती है। वे उसका दुरुपयोग कर असमय ही अर्द्ध विकसित कला का मसृण कर पूजा योग्य नहीं छोड़ते। गाँवों में विवाह की समस्या इतनी भद्दी, पिछड़ी मूर्खता पूर्ण और विनाशक तथा अमानवीय है कि आश्चर्य होता है। कभी इसकी प्रतिक्रिया से सारे समाज का विनाश निश्चित है। व्यभिचार की जड़ भी यही है। माता-पिता में इतनी योग्यता नहीं कि उच्चकोटि के चरित्र निर्माण का आदर्श एवम् इस प्रकार की शिक्षाएँ उनके सामने रखें या शिक्षादि द्वारा उनके मानस में जमा दें। आज तो देखा जा रहा है निम्न स्तर के नाच-गान में बाप-बेटे को साथ लेकर बैठता है। जब तक बेटे के हाथ से नर्तकी को 'मौसी' नहीं कहवा देता उसके पेट का पानी नहीं पचता। बालकों के हाथ से रुपया दिलवाना, गाली दिलवाना, दिलग्गी करवाना ऐसे सांकेतिक और सूक्ष्म निर्देश हैं जो बालकों की मनोवृत्तियों को सदा के लिए मलिन कर देते हैं। कितनी लज्जा और शर्म

के साथ सुनना पड़ता है कि नागरिक वार-बनिताओं की तरह ग्रामीण मनचली युवतियाँ भी अर्थ की ओर आकृष्ट होकर शरीर विक्रय करने लगी हैं। देहात के लोगों ने शहर में जा जाकर और सीखा है क्या ? अच्छाई ग्रहण करना कठिन है! बुराई की ओर जल्दी आदमी अग्रसर होता है। यही दशा गाँवों की है। नैतिक और चारित्रिक पतन का पराकाष्ठा यह है कि बहू-बेटियों पर आँख उठाना एक शाबाशी हो गई है। गाँव के बड़े बूढ़े समझदार खून का घूँट पीकर रह जाते हैं। जिन्होंने पुराने गाँव देखे हैं, वे आज के ऐसे गाँवों को देखकर आठ-आठ आँसू रोते हैं। स्वस्थ आदमी जिसका शरीर और मन ठीक ठीक काम करता है। आज चिराग लेकर खोजने पर गाँवों में कठिनाई से मिलेंगे। मन के स्वास्थ्य की आभा शरीर से फूट-फूटकर निकल रही हो, ऐसे नौजवान चश्मा लेकर खोजने पर भी नहीं मिलते। एक तो भोजनादि की न्यूनता के कारण शरीर का पोषण नहीं होता दूसरे मानसिक विकार जनित चारित्रिक क्षय और भी रोग का विद्रूप खड़ा कर देता है। कहते हैं कि मवेशियों को जो एक प्रकार से अनबोलता साधू है जो घास चुरा कर खिलाई जाती है उसका पाप नहीं लगता। उसी प्रकार बड़ी जाति के लोग छोटी जाति की औरतों के साथ जो स्वच्छाचारिता बरतते हैं उसका कलुष क्षम्य है। इस बीसवीं शताब्दी में कितनी पुस्तकें लिखी गईं, कितना इस विषय पर विचार हुआ, प्रेम तथा वासना की समस्या पर, स्त्री पुरुषों के अधिकार का प्रश्न लेकर कितने ऊँचे-ऊँचे दरजे के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ, इसकी सीमा नहीं है। इसी युग में किसानों की इस दुनिया में आँक कर देखते हैं तो लगता है कि कुछ अश में इसकी झूठी प्रशंसा कर करके इसकी वास्तविकता को ढकने का प्रयास सदा से होता चला आया है। मानव के विकास की बात तो दूर है, मानव मानव के स्तर पर है ही नहीं। इनका जीवन जंगली भी नहीं है। एक विचित्र घाल-मेल

है। प्रकृति ने इन्हें जितना वैभवशाली बनाया उतना गौरववान न होकर ये निज की विभूतियों के लिए अपने को दरिद्र बनाते चले जा रहे हैं।

शहरों में जिस प्रकार डाक्टरों की संख्या दिन दूनी तथा रात चौगुनी बढ़ती चली जा रही है, उसी प्रकार गाँवों में वैद्य तथा ओझा लोगों की। कभी-कभी तो एक ही व्यक्ति दोनों पदों को सुशोभित करता है। वैद्य रोग की दवा करता है। ओझा-सोखा (दैवज्ञ अथवा प्रेत विद्या विशारद) लोग ऊपर-झापर के लिए तन्त्र-मन्त्र और यन्त्र की व्यवस्था करते हैं। वैद्य के यहाँ से रोगी जल्दी वापस आ जाता है पर ओझा की शरण में उसे समय लगता है। वहाँ की बात ही कुछ और होती है। देवी-देवताओं की जमघट लगी है। भूत-प्रेत दर्जन के दर्जन घेरे पड़े हैं। इन्हीं के बीच सुन्दरी सुरा-सेवी, अटपटे वेश, अटपटी वाणी वाले ओझा महाराज विराजमान हैं। कहीं-कहीं तो दिन नियत रहता है। जब कि वहां भक्तों की भीड़ उमड़ आती है। देहातभर गुण्डे एकत्र होकर घी मलीदा खाते हैं। स्वच्छाचारिणी और अन्ध-विश्वासी स्त्रियां पुरुषों की चोरी अथवा बहाना करके, कभी-कभी उनकी राय से ही उस देवस्थान पर जाती हैं जहां भूतों और लफंगों का अखाढ़ा जमता है। समझदार लोग अपनी स्त्रियों को रोकते हैं। देहात के बहुत से अशिक्षित गुंडों का तो यही व्यवसाय हो जाता है। जिसे खेत में मिहनत करना नहीं सुहाता, जो बिना हर्रे फिटिकरी के रंग चोखा लाना चाहता है, वह ओझा हो जाता है। यदि कुछ हया वाला हुआ तो वैद्य बन जाता है। वैद्य जी दवा क्या देते हैं आशीर्वाद ही समझा जाय। "लागी तो तीर नाहीं तुक्का।" एक रुपया और सीधा (भोजन की सामग्री) तो सुरक्षित है ही। यदि सफलता नहीं मिली तो वैद्य जी ने एक सुन्दर उपसंहार जड़ दिया। भाग्य का दोष है या देवताओं की टेढ़ी है। रोग एक समस्या हो गयी है। बेचारे गाँव वाले रेखा नहीं

खींच पाते कि कहाँ तक रोग है और कहाँ तक भूत का उपद्रव ! रोग भी हैं कि घटने का नाम नहीं लेते । मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की ।

बड़े बूढ़े बाबा लोग भूतों की लम्बी-चौड़ी कहानियाँ कहते हैं । उनके विचित्र-विचित्र, लोमहर्षक कारनामे बयान करते हैं । प्रत्येक डीह, बगीचा, एकान्तका बड़ा पेड़, पीपल, झाड़ी, झुरमुट, ताड़, नदी, मुहाना, गली और गांव का कोट (ऊँचा भाग) किसी न किसी महा-शक्ति शाली भूत की दास्तान से सम्बन्धित होता है । आज कल तो भूत कम देखने में आते हैं पर आँख वाले, लोगों की कमी नहीं । पहले जहां दिन दहाड़े भूत टहलते दृष्टिगोचर होते थे वहाँ आज चिराग लेकर ढूँढ़ने पर भी नहीं दिखाई पड़ते । कहा जाता है कि आज का मानव ही भूत हो गया है अतः वे मारे डर के छिपे रहते हैं या समाप्त हो गए । जो हो, पर इतना निश्चित सा है कि बाबा-दादा के युग की अपेक्षा आज भूत कम दिखाई पड़ रहे हैं । इससे यह नहीं समझा जाता कि उनका अस्तित्व ही विलुप्त हो गया । उनका आक्रमण आज भी होता है । कभी कभी बहुत जोर दार भी होता है । अन्त दृष्टि से उनको देखने वाले ऐसा कहते हैं । आश्चर्य है कि ऐसी दिव्य-दृष्टि वाले छोटी जाति के वे लोग अधिक हैं । जो कभी स्नान भी नहीं करते और गन्दगी के औतार ही होते हैं । उनकी राय में प्रत्येक बीमार किसी न किसी भूत का शिकार है । प्रत्येक अभागा आदम आदमी किसी न किसी ब्रह्म, जीन या देवी का कोप भाजन है । सबको इसका रहस्य थोड़े ज्ञात होगा । इसे तो विशेष लोग ही जानते हैं । ये विशेष लोग पहले सिरे के निठल्ले और बेकार व्यक्ति होते हैं । बड़े घरों तक की स्त्रियों इनका चरणरज सिर माथे पर लगा कर कृतार्थ हो जाती हैं । ये लोग भूतों को बझाते है । ये मदिरा प्रेम से पीते हैं । कभी कभी तो सभा करके भूत सम्बन्धी बड़े बड़े मसले तै किए जाते हैं । ये लोग जब भूत पकड़ते हैं तो

विचित्र तरीके से किटकिटाते हैं। भयानक शब्द करते हैं। युग में यह सब खेलवाड़ सा लगता है। ग्रामीण इसमें रस लेते हैं। लिपटे चिपटे रहते हैं। कभी कभी तो वे लोग अद्भुत कमाल भी दिखाते हैं। यह मैस्मरेज्म जैसी कोई चीज़ है। ये साधारण बुद्धि वालों को चक्कर में डालने के लिए विचित्र विचित्र हथकण्डे जानते हैं। गांवों के ये बेकार ओझा, दैवज्ञ अथवा भूत-मास्टर लोग पैसा गांठने या अपना उल्लू सीधा करने के लिए मैदान बनाया करते हैं। बढ़-बढ़ कर हाथ मारते हैं।

व्यवसाय का प्रभाव जीवन पर पड़ता है। किसान का व्यवसाय ऐसा पवित्र और सरल-सरस है कि सहज ही उससे भोलेपन की आशा की जाती है। किसान था भी कभी निपट शुद्ध हृदय का निर्मल चरित्र वाला संसारभर की अखिल सिधाई और सरलता का आदर्श। आज यान्त्रिक सभ्यता ने किसान के व्यक्तित्व को मोम नहीं रहने दिया। उसे लौह फलक बना दिया। वह भी क्रूर और काइयाँ होने लगा। जमाने की गति में गति मिलाकर चलने लगा। यही न जीना है! निराशा यह देखकर होती है कि उसके हाथ अभिशाप ही लगे। वरदान प्राप्त करने में वह सर्वथा असमर्थ रही। विद्या-बुद्धि, आविष्कार और प्रकाश की जो लहर संसार के इस छोर से उस छोर तक उमड़ रही है किसान उससे सर्वथा अपरिचित रह गया। विज्ञान ने इस जड़ जगत के रहस्यों का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया। अन्धकार के ऊपर प्रकाश की अभूतपूर्व विजय हुई। किन्तु किसान से इन सबसे कुछ मतलब नहीं। एक तरफ बुरी तरह अपनी पुरानी रूढ़ियों की अस्थियों से चिपटा है दूसरी तरफ पागल कुत्तों की नाईं दूसरों को देखकर गुर्राता है। विकास की दृष्टि से वह किसी भी क्षेत्र में 'आगे नहीं बढ़ पाया है। कहना असत्य न होगा कि 'वह बड़ी तीव्रता से पीछे की ओर गया है। आँख होते हुए अन्धे, का न होते हुए बहरे, पैर होते हुए गतिशून्य, हाथ

रहते हुए निष्क्रिय और बुद्धि रहते हुए मूर्ख मानव इस युग में इतनी अधिक संख्या में भेंड़-बकरी की तरह और कहां मिलेंगे ? आज किसानों में आधे से अधिक परिवार ऐसे मिलेंगे जहां बालकों को स्कूल में भेजना उनका जीवन बरबाद करना समझा जाता है। चतुर्दिक मूर्खता का वातावरण छाया रहता है। गाँव के मेधावी और प्रतिभा सम्पन्न बालक स्कूल का मुँह नहीं देख पाते। अथवा किसी कारणवश उनकी शिक्षा पूरी नहीं हो पाती। ये ही कालान्तर में गांव के सरदार होते हैं। दो को लड़ाकर तमाशा देखना इनका प्रमुख काम हो जाता है।

शारीरिक शक्ति चोरी, अपहरण और जिसकी लाठी उसकी भैंस को, सौन्दर्य व्यभिचार को, धन मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन देता है। उसी प्रकार उद्योग की कमी चौर्य मनोवृत्ति को तथा प्रतिभा और बुद्धिमानी मुकदमेबाजो की प्रेरणा देती है। इस कथन का तात्पर्य यह नहीं कि आज जो कुछ गांवों में है यही है। हां इन दिशाओं में लोगों ने चलना प्रारम्भ कर दिया है।

सदा से नहीं, यह विनाशक क्षय कुछ ही दिनों से प्रबल हो उठा है। आज से १०-१५ बर्ष पूर्व के गांवों में और आज के गांवों में अन्तर पड़ गया है। महायुद्ध के पश्चात् जिस गति से राजनैतिक उथल-पुथल और विश्वनैतिकता में दरार पड़ने लगी उसी प्रकार हमारे गांवों में भी सूक्ष्म रूप से ध्वंस-लीला का श्रीगणेश हो गया। यों किसान पुराने तरीके से जीवन बिताने के लिए बाध्य था। नए युग की नवीन जीवन-प्रणाली से उसे सर्वथा अपरिचित एवम् वंचित रहना पड़ा। उस पुरानी पद्धति में एक आदर्श, एक सचाई, एक सिधाई और एक शान्ति थी। ऐसी शान्ति जो नागरिकों के लिए अनुकरणीय थी। आज का किसान वह मूलधन गँवा बैठा है।

विश्व के राजनैतिक रंगमंच पर कूटनीतिज्ञ, शान्ति भक्षी और संहार को लुटा नर-पिशाचों के अवतरण के साथ ही गांवों का सुदूर

एकान्तिक वातावरण भी घनघोर स्वार्थ जन्य छीना-झपटी के घुटनशील वायुमण्डल से आच्छादित हो गया। राजनैतिक वातावरण की संहार-कारिणी मनोवृत्ति की काली छाया किसान के स्वप्न जगत पर पड़ गई। अवस्था इस हद तक बिगड़ी कि प्रत्येक गांव में चर्चिल, एमरी, ट्रूमैन, मुसोलनी, स्टालिन और हिटलर के संतान उछलने लगे। ये दूसरों के मंड़वे में नाचने वाले ये बहती दरिया में हाथ धोने वाले, ये कम्पा लेकर, लासा लेकर बन-बन घूमने वाले, धोखाधड़ी और मिथ्याचार जिनकी जीविका है, असत्य—सफद झूठ और सब्जबाग—ही जिनका धर्म है, क्षितिज के एक छोर को दूसरे छोर से बांधने लगे। धराशायी शव पर पैशाचिक अट्टहास जिनका मनोरंजन है, आमोद-प्रमोद है, युद्ध जिनकी क्रीड़ास्थली और संहार जिनका प्रिय व्यसन है, ऐसे निशाचर बड़ी बड़ी बातें बनाने लगे, गांवों में भी ऐसा ही आज का राजनैतिक विश्व अपने सीमित रूप में उतर आया है।

किसान अपनी एक बुराई छोड़ दे। यानी वह एक दूसरे को देखकर जलना छोड़ दे तो वह अभी भी स्वर्ग सुख का नैसर्गिक भागी है। वह धरती और आकाश का मालिक है। वह सोने के देश का निवासी है। सूरज चांद उसे रोशनी देते हैं। प्रातः संध्या उसे प्रकृति रंगों में शराबोर कर देती है। हरी हरी घासों पर नित्य हीरा मोती न्योछावर होते हैं। उसकी विभूतियों से संसार भाग्यशाली है। उसकी महानता की ये सब एक तरफ जन्मसिद्ध प्रकरण हैं। दूसरी तरफ इन सबको विस्मृत कर वह दुर्भाग्य की एक ठोकर से विचूर्ण कर देता है। अज्ञान, स्वार्थपरता और परद्रोह के कारण लघुता के उपकरण ही उसके हाथ लगते हैं।

वह 'स्वयं' की भलाई सोचता है। यहां तक तो सही है। किन्तु यह आकांक्षा दूसरे की बुराई की भित्ति पर आधारित होता है, यही शोचनीय है। इतिहास साक्षी है कि दूसरे की भलाई ही अपना उन्नति

का पथ निकालती है। इस सत्य को किसान ने भुला दिया है। आज वह जहां तक बन पड़ता है दूसरे के काम का बिगाड़ने का यत्न करता है। यह कटु सत्य है। त्याग और बलिदान के उच्चारण धरे रह जाते हैं। सुनते हैं कभी बरसात में किसी गाँव के निवासी भूखों मरने लगे। इस दशा से द्रवित होकर वहां के किसी सम्पन्न सरदार ने अपनी बखार (खत्ती) खोल दी। सारा अन्न बिना रोक-टोक और हिसाब-किताब के वितरित कर दिया। आदर्श किसान के कर्तव्य का पालन हुआ। आज यह कहानी है। भुखमरी की स्थिति पीछा नहीं छोड़ती है। सम्पन्न लोग घी के चिराग जलाते हैं और दरिद्रों की कंगाली उनके दोनों हाथ में लड्डू थमा देती है। यों दरिद्रों के लिए उनकी तिजोरी आज भी खुली है पर दुर्दैव के सताए निरीहों के सर्व-स्वापहरण के लिए खुला इस तिजोरी और उस अर्गला बखार में महान अन्तर है। पट्टा, सरखत, दस्तावेज, रेहन, कबाला और न जाने क्या क्या झमेला है जो कानून के जबड़े को खोल देता है सम्पन्नों की तिजोरी के साथ हो। पाई पाई का हिसाब है, सूद-व्याज का मायाजाल है, सुरसा-सा लोभ है और हैं अगणित विषदन्त !

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो जल्दी से धनी हो जाना चाहते हैं। इस के लिए अपने उद्योग की कमी को दूसरे के उद्योग को नष्ट करके पूरा कर लेते हैं। कुछ ऐसे होते जो अपने को गाँव में एकता (अकेला) देखना चाहते हैं, चाहे किसी भी क्षेत्र में। ये वे लोग हैं जो दूसरे के सिर का विच्छेद कर देना ही अपने सिरोन्नत का साधन समझते हैं। ये लोग दैवी दृष्टि से सबको तौलते हैं। सबकी नाड़ी पर सदा उँगली रखते हैं। बड़ी शान्ति से अपना जाल फैलाते रहते हैं। बड़े कौशल से दो उन्नति कामियों का सिर टकराकर उनकी शक्ति का क्षय कर देते हैं। शत्रु बनकर नहीं ये मित्र बनकर प्रतिस्पर्द्धी का विनाश करते हैं। ये एक तरफ घुरहू से बाबू साहब का खेत उखड़वा लेते हैं

दूसरी तरफ बाबू साहब से घुरहू पर फौजदारी करवा देते हैं। लक्ष्य घुरहू नहीं होते हैं, उसके ठाकुर होते हैं जो अपने आदमी लिए मैदान में आ ही जायेंगे। इस प्रकार गांव के दो मोटे लोग लड़ गए और लड़ाने वाला तमाशा देख रहा है।

ईर्ष्या द्वेष के शतरंज में आग की चाल चली जाती है। जो एक बार आग में जल जाता है वह पूरा-पूरा इसका ज्ञाता हो जाता है। वह इस कला में दक्ष होकर पहले-पहल किसी प्रकार प्रयोग करता है। सफलता मिलने पर एकता हो जाती है। इस प्रकार परस्पर गुत्थम-गुत्थी वैर-विरोध, प्रतिशोध और जलन का मनहूस बवण्डर छाया रहता है। हृदय ही कुछ और प्रकार का हो जाता है। सभी लोग एक दूसरे की गलतियों एवम् कमियों को खोल-खोलकर रखने में आनन्द का अनुभव करते हैं।

जो लोग हाथ-पैर परिश्रम में नहीं लगाते और तिकड़म तथा मकड़-जाल भी नहीं जानते, ऐसे महत्वाकांक्षी ग्रामीण चोर हो जाते हैं। बस इन्हें दिन से अधिक रात में दिखाई देने लगता है। इनसे बड़े-बड़े लोग थर्राते हैं। इनकी जमात रात के अँधेरे से माल सूँघती फिरता है। कुछ लोग अपनी धाक जमाने के लिये इनकी पीठ पर हो जाते हैं। ये उनके हथियार हो जाते हैं। केवल प्रतिशोध के लिए नहीं, जीविका रूप में भी इस तस्कर वृत्ति को अपनाने वाले ग्रामीण हैं। कुछ अपनी आदत से लाचार होते हैं। खाने-पहनने की कमी नहीं पर संग-सोहबत के प्रभाव में चोरी जैसा कुकृत्य करते हैं। कुछ तो इसमें बहादुरी जैसी चीज देखने लगते हैं। गाँवों में चोरी घास की चोरी से प्रारम्भ होती है और इसकी अन्तिम सीमा होती है बैल की चोरी।

भले मानवों की यह दुर्मति कि मिहनत न करना पड़े और खाएँ-पिएँ मौज करें, उन्हें कहाँ ले जा रही है। एक तो युग-युग की उपेक्षित, विकासपथ से सर्वथा भ्रष्ट, नवोदित-वैज्ञानिक-विकास अरुणिमा

से अपरिचित गाँव की समस्या यों ही सड़ गई थी, दूसरे ऐसे निठल्लों की भीड़ भाड़ ने उसे और अधिक गन्दा कर दिया। भरपेट या आधापेट खा कर, कभी कभी उपवास कर के, इधर उधर बैठकर, लम्बी लम्बी बातें बनाकर, जिस-तिस की निन्दा करके ये जीव अपना मिनट, घन्टे, दिन, महीने, वर्ष और एक लम्बी आयु काट देते हैं। यह भी कम महत्व की बात नहीं कि ऐसे निटल्ले गाँव के मशहूर झगड़ों के मूल में होते हैं। ये न तो अपने जीवन के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हैं और न उसमें किसी प्रकार का संशोधन चाहते हैं। इन्हें शिक्षा देना टेढ़ी खीर है। ये नंगा होते हैं। ये जो न कर दें थोड़ा होता है। इनके आगे नाथ न पाछे पगहा होता है। रईस और सज्जन इन्हें तरह देते हैं, इनसे बच कर रहते हैं। किसी किसी गाँव में इन्हें सरदार, नम्बरदार अथवा चौधरी की उपाधि मिल जाती है। प्रथ्येक गाँव में ये मिलेंगे। भारत के सात लाख गाँवों में जहाँ शिक्षा नहीं के बराबर है, जहाँ रात ही रात रहती है, दिन होता ही नहीं है, वे बेकार विपन्नता के धूमकेतु से उगे रहते हैं। कभी समय था कि किसानों के देश में बेकारी सौभाग्य का लक्षण समझा जाता था। आज भी गाँव के श्रीमान इस सौभाग्य से वंचित नहीं! तब धनी बेकार रईस हैं और गरीब बेकार गुण्डे।

एक कहावत है कि बेकार से बेगार भली। सो ये भले मानुस बेगार करने लायक भी नहीं होते। कभी-कभी बड़े किसान परिवार का कोई बिगड़ा सदस्य उभड़ता है तो कलकत्ते आदि की किसी मिल में जाकर भाग्य की आजमाइश करता है। व्यापार करने के लिए नहीं, नौकरी नयन में नाचती है। या तो वह अपने अमूल्य स्वास्थ्य से हाथ धोकर, बड़े साहबों की काटुकारी कर चार पैसा पैदा करता है और घर आने पर रंग विरंगे सामान, नारियल, बनिआइन, फल, मसाला आदि आदि लाकर परिवार का कृपापात्र बनने के साथ अपनी पृथक सत्ता जमा लेता है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो कठिन एवम्

असह्य नियमित श्रम अपने आलसी उच्छृङ्खल और बैठकी बाज स्वभाव कारण न सहनकर सकते थे फल स्वरूप सदा के लिए नौकरी से कान ऐंठ कर घर में दाखिल हो जाते हैं यार बनकर अथवा ताने सहकर भी सूखी रोटियाँ तोड़ने वालों में भर्ती हो जाते हैं। परिवार में खपत हो जाती है। यहाँ काम का वैसा कठोर आग्रह होता नहीं। फिर खेती गृहस्थी काम भी नौकरी से भिन्न है। इसे कैसे हू किया जाय तो होता रहता है। उसमें अन्तर क्या पड़ता है? जी चुराने वाले, श्रम से भड़कने वाले भी खेती करा लेते हैं। यह दूसरी बात है कि उन्हें खाने भर भी पैदावार नहीं मिलती।

दूर के ढोल सुहावन होते हैं। उद्योग के नाम पर गाँव वाले शहरों की ओर दौड़ते हैं। दरवानी भी मिल जाती है तो अहो भाग्य समझते हैं, ये मिल की मशीनों में जाकर पिस जायँ सम्भव है किन्तु अपनी खेती सादा, स्वस्थ व्यवसाय का सँवारने में उत्कट लगन नहीं प्रदर्शित करते। एक कोइरी के पास दो बीघे खेत है, उसके परिवार में चार सदस्य हैं। वह सुख पूर्वक खाता-पीता है। उसके सदस्य रात-दिन अभ्यास के अनुसार श्रम करते रहते हैं। खेत उन्हें सोना प्रदान करते हैं। अन्य एक उच्चवर्ग के परिवार में २१ सदस्य हैं। और साठ-सत्तर बीघे खेत हैं, श्रम का अभाव है अतः फटे हाल रहते हैं। उनके हाथ में श्रम का वह पारस पत्थर नहीं जो मिट्टी को छू दे तो हीरा हो जाय। उनके लिए मिट्टी है। क्यों नहीं, मिट्टी की तो घोषणा है कि "तुम मुझे छू दो, मैं सोना हो जाऊँगी।"

यह २१ सदस्यों वाला परिवार-जिसमें ११ स्त्रियां हैं—नब्बे प्रतिशत बेकार लोगों का है। सर्वाधिक बेकार स्त्रियाँ हैं। बड़े घर की औरतें यदि उपले तैयार कर लें (यह छूट भी बड़ीबूढ़ियों के लिए है) तो यही बहुत है! ३ बच्चे हैं। २ किशोर हैं। चार जवान और एक वृद्ध महाशय हैं। ये बूढ़े बाबा मालिक हैं और

भाग्य को रोया करते हैं। काम करने की शक्ति जाती रही। बैठे बैठे यह नहीं हुआ करते रहते हैं। चारपाई तोड़ते हैं औरचिलम को सदा गर्म रखते हैं। चार नौजवानों में एक मालिक का पद लेने के लिए अभी से गाँव में घूम-घूमकर प्रेक्टिस शुरू कर दिया है। लोग उसे सरदार कहने लगे हैं। यह तो है कि जब यह घर का भावी सरदार है तो काम क्या करे? वह परोपकार में, लोगों के मामले-मुकदमे में, उनकी गलती-सही में अपना समय देता है तो फिर अपना काम क्या? उसे करनेवाले तो तीन शेष हैं ही। एक नौजवान साधु प्रकृति का बैठकबाज है। काम से जी चुराता है। प्रत्यक्षतया भजनभाव का पूरा स्वांग रचे रहता है। सबको सियाराम कहता है। त्रयोदशी को गंगाजल लाकर शंकर को स्नान कराता है। दोनों एकादशी और सभी उपवास वाले व्रत रहता है। दिन का अधिकांश भाग सत्सङ्ग और स्नान ध्यान में बीत जाता है। संसार को माया कहता है। जब कोई कहता है कि विना काम किए कैसे पेट भरेगा तो बड़े तपाक से बाबा मलूकादास का 'अजगर करे न चाकरी, वाला दोहा सुना देता है। शेष दो नौजवान काम करते हैं। जलते-भुनते रहते हैं। बैठकर खानेवाले भाइयों से चिढ़े रहते हैं। मालिक के मरने की प्रतीक्षा करते हैं। तब वे अपना हिस्सा बँटाकर अलग रहने की कामना करते हैं। ऐसे भाँड़ों के बीच मर मर कर पैदा करें और सब स्वाहा। बच्चों की पढ़ाई ठीक से नहीं हो पाती। खाना-कपड़ा काम चलाने भर को भी पर्याप्त मुअस्सर नहीं होता। ऋण बढ़ता जाता है। खेत के बीघे वाले कुछ अङ्क ऋण के दाव पर रख दिए जाते हैं और प्रति वर्ष चले जाते हैं। आखिर हो भी दूसरा क्या? दो कमाने वाले और उन्नीस मुँह खाने वाले। ऐसा ही अथवा इसी से मिलती-जुलती परिस्थितियाँ सर्वत्र पाते हैं।

प्रश्न यह होता है कि इतने दिनों तक ऐसे हीं काम चला। कभी

बाप-दादों ने अपने साथ स्त्रियों को नहीं खटाया। घर में, गाँव में सदा से ऐसे लोग होते चले आए हैं जो अपनी मस्ती और रँगीली के सामने काम को कुछ नहीं समझते। बड़े-बूढ़े सदा से आराम करते हैं। अब क्यों सब लोग दिन रात हाय तोबा मचावें? पारिवारिक जीवन का यही तो आनन्द है? एक कर्मठ व्यक्ति दस मुँह की लाली रख लेता है। फिर औरतें तो युग-युग की गृह स्वामिनी और लक्ष्मी हैं। उन्हें बाहर निकाल कर मजदूर जैसे काम कराकर कौन सा लाभ होगा?

एक मध्यम वर्ग का व्यक्ति जो पुरानी रूढ़ियों से बेतरह चिपटा है, ऐसे प्रश्नों के मायाजाल में उलझ-उलझ जायगा। उसे क्या पता कि प्राचीन युग अपनी केंचुली उतार कर कभी का फेंक चुका है। तब यहाँ थोड़े में निर्वाह होता था और आज 'बहुत' चाहिए। पीपल-पाकड़ का गोदा (फल) गुल्लर का फल या सागपात खाकर गुजर करने वाला युग लद गया। आज व्यक्ति पूर्णतया अन्न पर अवलम्बित हो गया है। आज उसे विविध प्रकार के वस्त्र चाहिए। वह युग भी न रहा जब घरकी कपास' घर का सूत और घर जुलहा एक टका (दो पैसा) प्रति गज बुनाई लेकर जीवनीपयोगी वस्त्र तैयार कर देता था। महलों के इस निर्माण युग में रहने की इच्छा को कहाँ तक दबायेगा? इस चकाचौंध युग में दीपक के नीचे बैठे-बैठे वह कब तक नहीं उकताए? तात्पर्य यह कि हम उस पुराने युग से बहुत आगे आ गए। हमारी आवश्यकताएँ बढ़ गईं। हमारी इच्छाएँ बढ़ गईं। अतः हमें अपने श्रम में भी वृद्धि करनी चानिए। ऐसा नहीं करेंगे तो भूखों मरेंगे। रही स्त्रियों की बात। उन्हें घर के घेरे से निकलना ही पड़ेगा। कब तक उन्हें दुनियाँ से दूर पिंजरे में बलात् बन्द रखा जायगा? यदि बाहर मजदूर की भाँति काम न भी करें तो उनके विशेष गृह-धन्धे हैं। वे भी तो आज बन्द हैं? आज तो कठिनाई से

वे खाना बनाती हैं। बच्चा पैदा करती हैं और कामधाम के नाम पर कलह करती हैं या तीर्थ करती हैं। अवश्य ही यहाँ बात उन गिनी चुनी सौभाग्यशालिनी कुल बधुओं की नहीं हो रही है जिनके श्रम और जिनकी प्रबन्ध चातुरी से घर स्वर्ग बना रहता है।

श्रम की सीमा में यह अन्धेर है, अब खेल का राज्य देखें। यह तो निर्विवाद सत्य है कि खेल चाहें वह शारीरिक हो चाहे मानसिक मानव जीवन को स्वस्थ, प्रसन्न और सुखमय बनाने का प्रमुख प्रसाधन है। गाँव वाले इस राज्य से अपरिचित न थे। जिस प्रकार वे शारीरिक खेल में प्रवाह होते थे उसी प्रकार मानसिक खेल में भी। उनका मानसिक खेल भी था एकदम मौलिक और उनके वातावरण से मिलता जुलता। हलचल रहा है। झुण्ड के झुण्ड गाय-भैंस चारागह में विचर रही हैं। अथवा फसल की रखवाली हो रही है। ऐसे समय खेत का मेढ़ पर, टीले पर अथवा किसी वृक्ष का घनी सुशीतल छाया के नीचे बैठ कर किसाना 'सूत परेता' 'सुइया' 'गोटी' और अनगिन प्रकार के खेल रचता है। सामान कुछ नहीं, इंतने संक्षिप्त कि जहाँ चाहें तत्काल मिल जायें। कंकड़ ठीकरे और मिट्टी के ढेर ही ठहरे। खेल के बाद उसे ले भी कहीं नहीं जाना है। वहीं फेंक दिया। दामन कौड़ी, मुफ्त का मनोरंजन। जमीन पर आड़ी-तिरछी-वर्गाकार त्रिभुजाकार रेखाओं से खाने बनाकर गोटियों की मार होता है। छत्तीस गोटी बैठती उस खेल का नाम 'छत्तीसी' बत्तीस गोटी बैठती उस खेल का नाम 'बत्तीसी'। काम में भी हर्ज नहीं होता। आनन्द पूर्वक प्रकृति के उपकरणों से उसी के बीच रचाए जाने वाले खेल अवश्य ही पेड़ पौदों की तरह किसान के मन को हरा भरा रखने में समर्थ हैं। यही नहीं शाम को बड़े बूढ़े बालकों से विविध प्रकार की पहेलियां, बुझौवलें और बैठाव पूछते हैं। वे भी ती एक मानसिक खेल ही हैं। ये उदाहरण रूप में रखे गए हैं।

इस प्रकार के खेल भिन्न-भिन्न प्रकार से खेले जाते हैं और किसान तथा उसके बच्चे आनन्दित होते हैं।

नये युग में किसानों की दुनियाँ में नये-नये खेतों का शुभागमन हुआ। फल स्वरूप बेकार बन्धुओं की 'नई-नई' सृष्टि हुई। ताश की, चौसर की बैठकियाँ जमने लगीं। साइन बोर्ड नहीं लगा के क्या हुआ? ये बैठकियाँ ताश क्लब तथा चौसर या शतरंज क्लब से कम नहीं शतरंज के कदम भी गाँव में पड़ गए। शहर में बास का सौभग्य प्राप्त ग्रामीणों की कृपा से अन्याय अंग्रेजी खेल, विविध नाम वाले आए। अंग्रेजी नाम को अपनी भाषा के साँचे में ढ़ाल कर ग्रामीणों के एक छाप अपनी भी लगा दी। एक ताश के खेल का नाम है 'टवेंटी नाइन'। इसको गाँव वाले 'टुनटुन' कहने लगे। जुआ पुराना खेल है। उसके लिये पौराणिक आधार भी है। कई त्योहारों, विशेषकर दीवाली के अवसर पर उसका शास्त्रीय विधान है। ऐसी दशा में यह खेल जम कर जमे तो क्या अचरज? गहरी बरबादी इसी से होता है। चौबीस घन्टे में कोई हजारों रुपए का स्वामी है। आज शाम को जिसे भोजन की तलाश में भटकते देखा, कल सवेरे घर दावतें दे रहा है। पासा पलट गया। भाग्य का सितारा अचानक बुलन्दी पर चमचमाने लगा।

कितना अधर्मकारी आदर्श है। एक आदमी दम तोड़ कर श्रम करता है जीवन भर में एक सौ रुपया इकट्ठे उसकी हथेली पर नहीं आता। घी का स्वाद जानने के लिपे मरते समय तक सुयोग नही आते एवम् रजाई (लिहाफ) ओढ़ कर जाड़े में सोने में क्या मजा है इसने इस जन्म में नहीं जाना। और कोई एक ही दाव पर आनन कानन में हजारों का वारान्यारा करके दस के बीच दहचन्द्र बना फूला फूला घूमता है। वस्त्राभूषण सजाता है और तर माल काटता है। यह सब

क्या है ? क्या सचमुच भाग्य का खेल है ? आधार तो लोग इसी न दिखाई देने वाली वस्तु को बनाते हैं। फिर क्यों न दूसरों को लोभ हो कि हम भी एक बार भाग्य की आजमाइश करें। यह एक बार का एक प्याला नशे का वह आकर्षण पैदा करता है जो जन्म भर साथ लगा रहता है। जिसकी विनाशक बेहोशी क्या सुपथ पर नहीं आने देती। जिसे एक बार इसका चस्का लगा, बस उसका सारा जीवन उद्योग ही न समझना चाहिए; वही पासा, वही दाव, वही रुपया, वही भाग्यवाली वर्ण विहीन श्री की सम्मोहक कल्पना सारे जीवन में स्वप्न की तरह छा जाती है। वैभव की मोटी गद्दी पर बैठे भाग्यवानों की बात दूसरी है। गाँव के गरीबों के लिए यह रोग है। यहाँ श्रम की महत्ता है। जिसकी आँखों में दिन रात चाँद-सितारे नाचते रहते हैं वह कभी परिश्रम में जुट सकता है ? कदापि नहीं। अपना ही जीवन नहीं, समस्त मानवता की जीवन-रक्षा जिन किसानों पर निर्भर है उनका उद्योग ही नवास्तव में जीवन का अभिशाप होगा।

ताश-चौपड़ की सत्यानाशी क्रीडा ने गाँवों को चौपट ही कर दिया। एक बाबू साहब चौपड़ पर बैठे हैं। उन्हीं के समवयस्क चार और आदमी हैं। शेष में चार-पाँच नवयुवक हैं और तीन-चार बच्चे हैं। चार व्यक्ति खेल रहे हैं और शेष तमाशा देख रहे हैं। कभी-कभी गोटी चलने के विषय में ये भी अपनी सम्मति प्रदान करने से नहीं चूकते, कभी किसी का पासा पड़ने पर दाद देते हैं। कभी "छः दाना" "पौ बारह" आदि आदि कहकर स्वरों का जमघट लगा देते हैं। आश्चर्य की बात है कि वे छोटे-छोटे बच्चे जो प्राइमरो स्कूलों में पढ़ते हैं, पासा पड़ना और गोटी की चाल जान गए। संग का प्रभाव पड़ता ही है। बाबू साहब इस दल के नेता हैं। उन बालकों और युवकों पर बहुत प्रसन्न रहते हैं जो खेल के समय हाजिर रहते हैं। अथवा दाव का हो हल्ला करते हैं। यह खेल सायंकाल ३ बजे नियमित रूप से बैठा जाता है। कभी-कभी सबेरे

बैठ जाता है। 'एक बाजी और' करते करते संध्या हो जाती है।

उधर गोटी की मार होररही है इधर बैल खूँटे पर चक्कर काट रहा है। पानी नहीं पड़ा है। चारे के दर्शन नहीं हुए। बेचारा छटपटा रहा है। मालिक उधर बाजी पर बाजी मार रहे हैं। उनका पासा पासा पलट रहा है। घर में भोजन का ठिकाना नहीं, बाहर आनन्द का राज्य है। ऐसा आनन्द जो उद्योग करना, हाथ से श्रम का भार उठाना गवारा नहीं करता। बड़े आदमी हैं। पुरखे काफी नाम वाले थे। अब भी लोग आदर सूचक शब्द नाम के पहले जोड़कर बुलाते हैं। लड़कों और युवकों में अपने इस निठल्लेपन का मीठा विष बो रहे हैं। इस संघर्ष के, कशमकश के युग में, जिसमें रोटी के लिए मानवता दम ताड़ परिश्रम करने जा रही है, या दरिद्र रईस दिन भर बैठे-बैठे अपना अमूल्य समय तो बरबाद करते ही हैं औरों को भी यही पाठ पढ़ा रहे हैं। ये खेत की ओर तो झाँकने भी नहीं जाते। कहते हैं कि खेत अपना मयार, प्रेमी और स्वामी खोजते हैं। जब वे नहीं आते तो शाप देते हैं। फसल नहीं देते। दिन-भर ताश-चौपड़ पर जमे रहने वाले के खेत रोते हैं। एक ही डाँड़ पर उद्योगी किसान के खेत हँस रहे हैं, लहरा रहे हैं, सोना उगल रहे हैं। और उसी के पार्श्व में यह खेत! घोर दारिद्रय के क्रूर व्यंग की तरह दुर्भाग्य की साक्षात् प्रतिमा की तरह, अपने वक्षस्थल पर मृत्तिका के कृष्णाकाय अनगढ़ ढेले धारण किए मनहूसी के मौसम की तरह! वैशाख में खलिहान भी ऐसे रोता है। वहाँ उतने अन्न के दाने भी नहीं होते जितने कातिक में बोए गए। खेत का काम है, ताश का या चौसर का खेल नहीं!

ऐसे लोगों से देश जाति और विश्व के कल्याण की कामना तो नितान्त ही आकाश कुसुम होगी। अपने पेट का भी ठिकाना नहीं। धिक्कार है ऐसे मनोरंजन पर और सौ बार धिक्कार है ऐसे जीवन को! घर चौपट हो रहा है। बालकों की पढ़ाई तेरह-बाईस हो रही है। खेत जंगल होते जा रहे हैं। खूँटा खाली होता जा रहा है। भुसहुल में छुछु-

न्दर लोटता है रसोई घर में चूहे दण्ड करते हैं। दाने के लाले पड़े हैं। चूल्हा जलने का बन्दोबस्त नहीं। ऐसी दशा में खेल की चाल चित्त में चक्कर काट रही है। बैठक बाजी बाजी मार रही है। दावों में उन्मुक्त गगन में गोते लगा रहे हैं। इस दुर्लभ आनन्द को भोले बालकों में और जोशीले युवकों में भर रहें हैं। बड़े बूढ़ों का आँख बचाकर, साथियों के साथ एकान्त में अथवा खुले आम बेहद ढ़िठाई और निर्लज्जता के साथ बालक भी ताश जमाते हैं। बुजुर्गों का आदर्श सामने है। वह क्या न करें ?

एक पेंशनयाफ्ता सज्जन तो अपने निवास स्थान पर पूरा "प्लेंइं-कार्ड-कालेज" (ताश का स्कूल) खोल रखे हैं। नित्य सबेरे से शाम तक यह कालेज खुला रहता है। नहाना, खाना और ताश खेलना यही उनका धन्धा है। कभी-कभी तो ताश का रंग ऐसा जमता है कि नहाना-खाना भी भूल जाते हैं। खेलने वाले भी संयोग वश एकाध दिन नहीं जुटे तो घर के दो-एक छोटे लड़कों को लेकर आनन्द करने लगते हैं। ये लड़के भी खूब ताश खेलते हैं। बयोवृद्ध हैं, दुनिया देख चुके हैं, समझदार हैं, जीवन में बड़ा कमाया और किया। अब जीवन के इस संध्या काल में तांश पर ही जी रसे हैं। इस कालेज में दिन भर भरती होती रहती है और क्लास खाली होते रहते हैं। गाँव के सारे बेकार लोग इसे सुशोभित रखते हैं। कुछ इसके स्थायी सदस्य हैं। कुछ विद्यार्थी हैं। कुछ प्रोफेसर हैं। ऐसे भी हैं कि घी का घड़ा लुढ़कता रहे मगर वे ताश का खेल छोड़कर टेलेंगे नहीं। एक परिवार का कर्ता, प्रमुख व्यक्ति यदि अपना दिन भर का समय बेकारी विलासता में व्यतीत करता है तो उस परिवार का भगवान ही भला करें।

एक दो की बात नहीं, केवल इस ताश और चौसरकी बात नहीं, ऐसी अनेक बात, अनेक तरह से और अनेक लोगों के जीवन में घुल मिल कर उसे पंगु बना रही हैं। बिना काम धाम के आदमी बढ़ रहे

हैं। कुछ पढ़े लिखे, मिडिल पास, हाई स्कूल फेल और कुछ आगे तक पढ़े भी अब मटरगश्ती में दिखाई पड़ते हैं। ऐसे जीव भी सब गाँवों में पैदा होने लगे हैं जो दिन भर कपड़े पर साबुन, नील और लोहा रगड़ते हैं तथा शाम को रंग झाड़ कर निकलते हैं, जैसे लखनऊ बना रखा है उन्होंने अपने गाँवोंको! बुराइयाँ शहर से आईं। कुछ बेकार व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो देखने में बड़े काम के और सामाजिक जीव ज्ञात होते हैं। इन शिष्ट, सभ्य, सुन्दर, सुरुचि सम्पन्न युवकों में एक ही अशिष्टता, कुरूपता अथवा कुरुचि होती है। वह यह कि ये भोजन प्राप्ति के लिए परिश्रम नहीं करते। ये वे लोग होते हैं जिनका सिद्धान्त है 'परान्नं दुर्लभं लोके।' ऐसे लोग खाने के लिए पर्याप्त कुख्यात होते हैं। बिना बुलाए भी, चींटे की तरह, ये मीठे माल पर पहुँच जाते हैं।

कुछ दोष समाज का भी है। इसकी बनावट आज ऐसी उखड़ गई है कि श्रम का जोड़ बैठता ही नहीं। परिस्थित का अटपटा पाठ एक को ऐसा बना देता है कि मिहनत करने से अवकाश नहीं मिलता, दूसरे को कोई काम नहीं मिलता और तीसरे का आलस-रस के स्वाद में डूबे डूबे तीनों लोक दिखाई पड़ते रहते हैं। तीनों दिग्भ्रान्त हैं और साथ ही कुछ अंश में विवश भी।

उच्चवर्ग का बेकार आदमी हाथ से काम करते शर्माता है। इस युग में जब कि जाति-पाँति का घेरा टूट गया। या टूट रहा है। जाति के ऊपर व्यवसाय को अपनाने लगे। वैज्ञानिक युग की नई मानवता ने धर्म और समाज की समस्त रूढ़ियों को मटिया मेट कर दिया। ऐसी दशा में हमारे गाँवों में जाति, कुल और धर्म का दुहाई देकर, बड़प्पन के नाम पर बेकार बैठे रहना, जितन ही हास्यास्पद है उतना ही शोच-नीय भी।

यदि कमाने वाले दूसरे हैं तो सम्भव है बैठे-बैठे भी पेट भर जाय। आलस और असावधानी की डगर पर इस प्रकार जिस ग्रामीण की जिन्दगी का रथ आधा पूरा तक चला गया और शेष आयु में आटे दाल का भाव मालूम हुआ तो क्या हुआ ? कहीं बूढ़ा सुग्गा पढ़ता है।

ऐसा भी धारणा है कि ऊंची जाति के लोग काम कराने के लिए पैदा हुए, करने के लिए नहीं और नीची कौम के लोग उनकी आज्ञानुसार काम करने के लिए पैदा हुए, वे जन्म जात कमीना हैं। इस धारणा ने सत्यानाश कर डाला। आप कराने वाले हैं, इसलिए कि आपके पास जमीन है। वह करने वाला है, इस अपराध के कारण कि उसके पास केवल मजबूत हाथ है। आपके पास जमीन है उसके पास श्रम है। अब आप हो सोचें कि धोखे में कौन है ? वह गतिशील है आप पंगु हैं। आप मृत हैं, वह जीवित है। उसे यदि धन्यवाद है तो आपको...... है। जमीन रहते आप भूखों मरते हैं। यह तो उसका अज्ञान (आज की भाषा में शालीनता) है जो श्रम के पतवार से एक रस जीवन को नैया खेता चलता है। आपका कुलाभिमान आपको डुबो देता है। उसका निरभिमान श्रम उसे पार लगा देता है।

कोई युग रहा जब बाबू लोगों की बैठे बैठे शान सुरक्षित थी। आज शान खेत में है, पलंग पर नहीं। फावड़े में है, फारसी (हुक्म का नली) में नहीं। आज पगड़ी नहीं, जूता चाहिए। आज छड़ी नहीं हाथ में हंसिया चाहिए। रोब नहीं, सद्भाव चाहिए। बेकारी जन्य विलासिता नहीं, श्रम श्लाघ्य है। साम्यवाद की हवा से देहात के किसानों के कान खड़े हो जाते हैं। सच तो यह कि साम्राज्यवादी शोषण की एक संक्षिप्त प्रणाली गांवों में वर्तमान है। यहां एक परम्परा है गरीब। एक गरीब को ही चूसता है। एक गरीब बाबू है और दूसरा गरीब बनिहार है। एक आज सशंक हो चला है तो दूसरा कुछ तिकड़मी था। एक अपना बाबू गिरी का थोथी शान और मिथ्या माया

की खुमारी में है तो दूसरा अपनी स्थान के प्रति सजग और जागरुक होने लगा है।

बनिहार की मोटी अक्ल में यह बात धंसने लगी है कि वह काम करता है, दिन रात काम करता है। उसे नंगा प्रतिक्षण तंग किए रहता है। उसका संगी जो यह बाबू है कुछ काम नहीं करता। अच्छा खाता-पहनता है। यद्यपि यह उसका भ्रम है। क्योंकि वास्तव में जैसा दरिद्र वह है वैसे ही खाली ये भी हैं। फर्क श्रम का है। एक करता है दूसरा नहीं। करने वाले की ईर्ष्या स्वाभाविक है। जहाँ तक जीवन का प्रश्न है, मजदूर में ही है। किसान वास्तव में वही है। किसान का अर्थ है अपने हाथ से अपना सारा काम करने वाला। हाँ, यदि कोई सहायक है तो वह प्रेम-पात्र है। रहा कभी वह युग जब आज जैसा खिंचाव न था। किसान किसान का यह दुराव गाँव का दुर्भाग्य है।

खेती बारी न करने वाले, उद्योग हीन, आलसी और बेकार व्यक्ति का पारिवारिक जीवन बड़ा दुखमय होता है। गाँवों में ऐसी कुप्रथा है कि बचपन में ही लड़के-लड़कियों का पाणि-ग्रहण हो जाता है। बचपन में कर्मठ और आलसी होने का कोई प्रमाण नहीं होता और यदि होता है तो बालक की शादी पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि यह कार्य तो बालक के पिता की योग्यता के आधार पर सम्पादित होता है। यदि इस प्रकार की प्रथा होती ? जैसी प्रथा उच्चशिक्षित शहरी घरानों अथवा कई जातियों में है, कि लड़का अपने पैर पर खड़ा हो जाता है, उसकी भुजाओं में इतनी शक्ति हो जाती है कि पृथक रहकर भी अपनी: तथा स्त्री की जीविका चला सके, तभी उसकी शादी होती है। ठीक इसके विपरीत गाँव की कुछ छोटी जातियों में बालक की शादी उसी समय हो जाती है जब वह दूध-मुँहा बच्चा होता है या अभी ठीक से धोती भी नहीं पहन पाता है। उसके दूध के दाँत दिखाई मी नहीं पड़ते कि उसे परिणय के पवित्र सूत्र में अब

कस दिया जाता है। यदि वह आलसी निकलता तो उसका एक पूरा कुनबा दुर्भाग्य की चट्टान पर सिर पटकता रहता है। ऐसी भी शकलें हैं जो अपनी जोरू के जाँगर पर जीवित हैं। कितने उनकी परवाह नहीं करते। बैठकवाज किसान की स्त्री घर में रोती है। बच्चों की तायदाद बरसाती मेढकों की भाँति बढ़ती चली जा रही है। भूख से परेशान होकर रात दिन पें पं किया करते हैं। इन नंग-धड़ंग बुभुक्षित, जिगर के टुकड़ों की मातृमूर्ति की दयनीयता अवर्णनीय है। जहाँ पर स्त्री और पुरुष दोनों के कमाने का, श्रम करने का, घर के बाहर निकल रोजी ढूँढ़ने का विधान मान्य है वहाँ कुशल है। जहाँ स्त्री की रोटी पूर्णतया पुरुष के हाथ में है, वहाँ स्त्री वास्तव में अबला है। जहाँ पुरुष के गति शून्य हो जाने पर स्त्री अपने खाने भर भी उपार्जित नहीं कर सकती, वहाँ की समस्या टेढ़ी खीर है।

पुरुषों की बेकारी असह्य है, स्त्री की बेकारी किसी दशा में यदि लभ्य भी मानें तो दोनों की बेकारी समस्या का वह अंग है जिस पर अधिक बोलने के प्रयत्न में वाणी मौन हो जाती है। कोई ग्रामीण पूरे परिवार को, स्त्री बच्चों को रोते विलखते छोड़कर शहर में नौकरी का कर लेता है। परिवार को भूल कर चैन की वंशी बजाता है। ऐसी हालत में यदि ऊँची जाति है तो स्त्री छटपटा कर रह जाती है। काश कि उसकी भुजाओं में शक्ति होती और वह घर के परम्परित घेरे को तोड़कर मुक्त हो सकती! यह घेरा उसे युग-युग से जकड़े है। वह पुरुष के संकेत पर नाचती रहती है, जन्म जन्म की दासी बनी रहती है, इसलिए पुरुष कमाता है। कभी पुरुष इसे धर्म समझता था। स्त्री उसकी अर्धाङ्गिनी थी। उसकी वह रक्षा करता था। यह कर्त्तव्य था और इसकी प्रेरणा हार्दिक होती थी। यह भावना जाती रही। शनैः शनैः स्त्री सम्पत्ति की कोटि में आ गई। वह पुरुष की वासना को तृप्त करने वाली, उसकी शान की पृष्ठभूमि, बच्चा पैदा करने वाली, सारे काम बजा लाने वाली

प्रत्येक प्रकार से सजग स्वतंत्र व्यक्तित्त्व से रहित, घर के घरे में बन्द और अबला समझी जाने लगी। जैसा कि ऊपर बता चुके हैं गाँवों में शादियाँ शत-प्रतिशत पिता की योग्यता पर, उसकी श्री सम्पन्नता पर होती हैं। दुर्भाग्यवश यदि पुत्र बड़ा होकर आवारा, निठल्ला, बेकार या निकम्मा निकला तो अकारण ही उसकी निर्दोष पत्नी को जीवन भर रोते कलपते बितता है। विवाह और स्त्री के अधिकार की ओजस्वी नहीं परन्तु धीमी विचार धाराएँ नए युग का सन्देश लेकर गाँवों में आने लगी हैं। आएँ मंगल ही होगा।

गाँवों में घेरा ही घेरा देखते हैं। स्त्रियाँ घर के घेरे में बन्द हैं। पुरुष गाँव के घेरे में बन्द। भूखों मरने की स्थिति में भी ये दोनों अपने घेरे को नहीं तोड़ सकते। न केवल तन बल्कि इनका मन भी घेरे में आबद्ध है। ये घेरे हैं अज्ञान के, रूढ़ियों के, जातियों के, ऊँच नीच के और अशिक्षा के। उत्साह उद्योगहीनता के, सुख-आलस के, गति पुराण पंथी के और धन दौलत दुर्बल सन्तोष के घेरे में बन्द हैं। लाखों मानव आज घेरे में बिलबिला रहे हैं। रोग महारोग बन कर मृत्यु के घेरे में परिवर्तित हो गया है। किसान मर मर कर जीता है। जी-जी कर मरता है।

दुःख की बात है कि आगे आनेवाली पीढ़ी से भी किसी प्रकार की आशा नही दिखाई पड़ती। किशोर बालक आवारों की तरह दिन भर घूमते हैं, बीड़ी सुलगाते रहते हैं, छिपकर ताश जुआ खेलते हैं, और न जाने क्या क्या करते हैं। स्कूल नहीं जाते। अनिवार्य शिक्षा अभी इस देश में नहीं हैं। फिर फीस आदि का फन्दा भी तो है। खेती-बारी किसान के बालकों का यद्यपि जन्मजात संस्कार है तथापि आज इतना अध्ययन से स्पष्ट है कि प्रत्येक पुत्र अपने पिता से कम श्रम करता है। अपने पिता से कम शक्तिशाली होता है। यही नहीं अपने पिता से खेती द्वरा उपार्जित भी कम ही कर पा रहा है। जिस काम में

आज के बालक अपने पिता से बढ़े चढ़े दिखाई पड़ते हैं वह है अपव्यय ! बीड़ी साधारण चीज है, जूता, साबुन, तेल, कंघी, कपड़ा, बिस्तर और जीवन का समस्त प्रसाधन उसे उम्दा चाहिए। भूत-प्रेत का वह विश्वासी नहीं। पर डाक्टरों के मायाजाल से वह पृथक नहीं। वह सीखता है कि कैसे दूसरों की हानि होगी। कैसे दो लड़ाये जायेंगे। कैसे सफल चोरी। पढ़ना-लिखना ऐसा तैसा। जब तक शादी नहीं हुई, तिलक लेने के लिए, बिक्री के रेट में चार चाँद लगाने के लिए, स्कूल में भेजा भर जाता है। प्रति एक हजार छात्रों में गाँव के पाँच ही छात्र पढ़ने वाले निकल रहे हैं। शेष स्कूल नापते हैं। जो यह नहीं करते वे भैंस चराते हैं। उद्योग धन्धे की उन्हें शिक्षा नहीं। संग वश ताश-चौसर सीख लिया। स्त्री को उसके बाप-दादे ने जैसा समझा उससे कुछ बढ़कर ही वह समझेगा। प्रेम, संगठन और शान्ति को वह तोड़ फोड़ कर रख देगा। गाँव में वह कोलाहल हलचल और त्राहि-त्राहि न मचा दे तो गोहुअन बाप का बेटा नहीं। बड़े-बूढ़े लोगों के सिर पर पैर रख देगा। गाँव का सड़ा हुआ वातावरण और सड़ता चला जाय, बला से। गाँव के इस भावी कर्णधार से उसके संस्कार की आशा व्यर्थ है। इनकी शिक्षा-दीक्षा जिस प्रकार की होती है, जैसी हवा में पलते और साँस लेते हैं, जिन लोगों से ये चौबीस घण्टे घिरे रहते हैं, जो आदर्श व्यवहार और विचार इनके सामने आते हैं तथा जिस प्रकार इनका जीवन बीतने के लिए विवश है उसे देखते हुए इनके ऊपर दोष मढ़ना भी बेकार है। गाँव की समस्याओं के प्रति दिलचस्पी रखनेवालों के सामने यह गूढ़ सवाल है। आखिर क्यां हो ? कैसे भविष्य के गाँव बनाये जायँ ? भावी पीढ़ी को कैसे विषाक्त संस्कार से बचाया जाय ?

आखिर गाँवों में ऐसा गोल माल क्यों चलता है ? जहाँ एक तरफ खेतों में काम हो रहा है, बगीचे सींचे जा रहे हैं, घर बनाया जा

रहा है, चारा काटा जा रहा है, खाद डाला जा रहा है, बोझ ढाया जा रहा है और खेती गृहस्थी से सम्बन्ध रखने वाले अन्यान्य काम नष्ट हो रहे हैं, वहाँ एक तरफ ऐसे हैं जिन्हें या तो करने लायक कुछ काम नहीं है या जो जी चुराए कुछ काम करते ही नहीं। सबेरे उठे, ऐसे-वैसे करते, हुक्का पीते, दातून करते, नहाते-खाते दोपहर हो गया। इसके बाद कहीं चले गए, किसी के यहाँ बैठ गए या कोई आ गया। बातचीत में बेर ढरक गई। फिर वही इधर-उधर, भनचर्चाएँ और हुक्का सुर्ती करते शाम हो गई। कुछ मौसमी काम करने वाले मौसम विशेष में काम करते हैं और बाकी साल भर उन्हें काम नहीं होता। अधिकांश युवकों के सामने तो कभी कभी कोई काम ही नहीं होता। अधिकांश युवकों के सामने तो कभी कभी कोई काम ही नहीं होता जिसे वे करें। एक किसान के तीन भाइयों में एक सिर्फ बैल खिलाता है। एक मामला-मुकदमा देखता है और एक मालिक होने के साथ ही अन्यान्य काम करता है। खेती के भीर वाले दिनों में सब संयुक्त काम करते हैं परन्तु अधिकांश दिनों में सब संयुक्त काम नहीं करते। परन्तु अधिकांश दिनों में बैल खिलाने वाला युवक किसान सबेरे-शाम बैल खिला कर पुनः रात दिन बेकार रहता है। मामला मुकदमे वाले सज्जन शहर में रहेंगे तो काम पर हैं अथवा घर पर रहें तो बेकार ही रहते हैं। मालिक साहब कुछ अधिक उत्तरदायित्व समझते हैं।

ऐसा मालूम होता है वे सारे दोष इसलिए आते हैं कि किसान के बालकों की आदर्श किसान की कोई ठोस व्यवस्था न होने के कारण बचपन में जो बनके जीवन की तैयारी होती है वह पूर्णतया अधूरी होती है। आधुनिक स्कूली विद्या और किसानी में २६ का सम्बन्ध है। स्कूल से निकला तरुण खेती के लिए पूर्णतया बेकार होता है। वह नौकरी चाहता है। उपयुक्त नौकरी न मिलने पर वह खेती में भर्ती होता है और शायद जितने दिन पढ़ने में लगे उससे अधिक दिन तक

खेती में उसे अपना शरीर झोकना पड़ता है तब कहीं जा कर प्रौढ़त आता है। कभी कभी किसान के शिक्षित कहे जाने वाले लड़के जीवन भर बेकारी के फन्दे में फँसे रह जाते हैं। खेती को 'उत्तम' की कोटि से जिस युग में निस्कासित कर दिया गया है उस युग का शिक्षित यदि उसे अपनाने में शर्म का अनुभव करता है तो क्या आश्चर्य?

कुछ किसान ऐसे भी हैं कि मारे दुलार के अपने बच्चों को खेती से पृथक रखते हैं। स्वयं उसकी दृष्टि में उसका पेशा निम्नकोटि का और मोटा हो गया है। खेती वह मजबूर हो कर करता है। उसकी दृष्टि में डिप्टी साहब का पंखा कुली अच्छा है, स्टेशन पर पानी पिलाने वाला बहुत खुशहाल है तथा महाजन की दुकान पर हिसाब लिखने वाला खुश-किस्मत है। वह नहीं चाहता है कि उसके बच्चे इसी कीचड़ गोबर में आवें। वे कुछ पढ़े लिखें और नौकरी करें। शरीर आराम में रहेगा। ये भावनाएँ उसके मन का उचाट सिद्ध कर रहा है। यह उपेक्षा और असन्तोष वंश परम्परागत चलता है।

अंग्रेजों की नौकरशाही ने भारत में नौकरी की वह चकाचौंध पैदा की कि किसान की दृष्टि मलीन हो गई। वह सर्व प्रथम तो अपने बालकों के लिए डिप्टी-दरोगा होने का स्वप्न देखता है। खेद है कि उसकी शिक्षा की ओर उसका ध्यान तनिक नहीं होता। खेती उसका पेशा होगा जो मूर्ख रह जाता है। जो पढ़ गया, समझदार हो गया वह उड़ गया। उसने शहरों को आबाद किया। बच गए गाँवों में खेती करने वाले निरे निरक्षर लोग। इसी लिए गाँव का वातावरण इतना गन्दा, सँकरा और अन्धकारमय हो जाता है कि वही सत्य प्रतीत होने लगता है।

पुरुष नौकरी के लिए पढ़ते हैं, इसीलिए लड़कियों के पढ़ने का लोग विरोध करते हैं। इन्हें किसान के घर रहने योग्य पात्र बनाया जाता है। विवाह के बाद इनके जीवन का प्रवाह अवरुद्ध सा हो जाता है।

बड़े घर की, ऊँची जाति की युवती स्त्रियों के सामने कोई काम नहीं। घर के छोटे मोटे काम पूरे समय तक उन्हें नहीं फँसा पाते। बेकार वक्त में वे शैतान के दिमाग' से सोचें तो क्या आश्चर्य। छोटी जाति की स्त्रियाँ इस विषय में भाग्यवान हैं। वे अपने पति के साथ खेतों में काम करती हैं। जब पति बेकार रहता है। तो वे भी बेकार रहती हैं। ऐसे में वे भी वाग्युद्ध करती हैं। उनका युद्ध भी दर्शनीय होता है। इस प्रकार सिद्ध है कि जिस परिणाम में ऊँची जाति की स्त्रियां बिना काम की रहती हैं उसी परिमाण में नीची जाति की काम में लगी रहती हैं। इसका परिणाम प्रत्यक्ष है। भोजनादि की कमी होने पर भी छोटी जाति की स्त्रियों का स्वास्थ्य अच्छा रहता है। उनमें स्फूर्ति रहती है। उनका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।

एक युग आ रहा है कि खेती की उपेक्षा करने वाले दाने दाने को तरसेंगे। धनी का मानदण्ड श्रम होगा। श्रम ही सम्पत्ति होगी।

यह भी कहा जाता है कि विकास, उन्नति एवम् श्रमका गाँवों में क्षेत्र है, न अवसर है, न साधन है और न प्रेरक तत्व है। शिक्षा प्रेरणा देती है। समाज और सरकार द्वारा साधन प्राप्त होते हैं। संस्कार अवसर देता है। वातावरण क्षेत्र देता है। शिक्षा की दशा शोचनीय है। क्यों हम नौकरी के लिए पढ़ते हैं। सरकार विदेशी रही जो नौकरी प्रधानता देती थी। संकार सब प्रगति विरोधी हैं। वातावरण मनहूस, उत्साहहीन एवम् कुण्ठित है।

किसान का एक बार भी पैर फिसला तो फिर ठिकाना नहीं लगता कितने परिवार धूल में मिल गए। आग लगाने समय साथ बैठ कर जो हँसी-ठट्ठा करते हैं, विपत्ति में पीठ पीछे मौखल उड़ाते हैं। दूसरे की गिरती दशा पर प्रसन्न होने वाले बात का बतका बनाकर पतन की कहानी कहते फिर हैं। जहां रेडियों, सिनेमा, पार्क, समाचा पत्र सार्व जनिक उद्यान और अन्यान्य मनोरंजन के साधन नहीं हैं। जहाँ के

रहने वाले निर्बंध स्वच्छ बाटिक, लहलहाते खेत, डूबते सूरज, बाँस कुंज से चिड़ियों की चहचहाहट, नदी तट, टीले, घने छायादार पेड़ और इसी प्रकार के अन्य सहज सुलभ नैसर्गिग मनोरंजनों के दिव्य साधनों का उपयोग करना सीखे नहीं वे क्या करें ? व उद्योग हीन ही नहीं हृदय हीन भी हैं। बुद्धि हीन ही नहीं दीन भी हैं। ऐसे जीवों का जीवन दरिद्रता की आँच से सुखा कर इधर उधर उड़ने और खड़खड़ाने लगे तो क्या आश्चर्य ?

—❋❋—

“देहात का दाल भात शहर का सलाम”

‘देहात का दाल भात शहर का सलाम’ प्रायः सुनते हैं। गाँवों में सामग्री की सहज सुलभता को लक्ष्य कर यह बात कही गई है। गाँव वालों की समझ में; शहर में यदि कोई सलाम करदे, परिचित मिल जाय और रहने भर का ठिकाना लग जाय तो इसे बहुत समझना चाहिए। हिसाब-किताब दुरुस्त रखने वाले, नाप तौल कर खाने-खर्चने वाले नागरिकों के बीच अपरिचित अतिथियों का प्रवेश कम हो पाता है। गाँवों में ऐसी बात नहीं। वे अतिथि सत्कार को सौभाग्य मानते हैं। यदि कोई बनावट की बात न हो तो कितने किसानों के घर नित्य भोजन अधिक तैयार होता है। काम करने वाले आदमी ठहरे। खायेंगे नहीं तो इतना दमतोड़ परिश्रम कैसे करेंगे ? अतिथि तो देवता है। भगवान है। उसके आने पर हर्ष होता है उसकी सेवा में कुछ उठा नहीं रखा जाता। जैसे होता है, उसे सन्तुष्ट किया जाता है। चूहे, बिल्ली, गाय आदि मवेशी किसान के हाथ से रक्षित हैं तो मनुष्य तो मनुष्य ही है। पथिक मार्ग में जहाँ कहीं थक जायें, गाँव देख कर विश्राम हैं और घर जैसा सुख पाते हैं। गाँव के पवनी, भिखमंगे, साधु, ब्राह्मण, दरिद्र, अभागे और निराश्रित भी उसके जिलाए जीते हैं। खिलाने-पिलाने में उसे सुख मिलता है। किसान इसे अपना धर्म समझता है। अपने भूखे रहकर भी दूसरों का पेट भरना, दूसरों की क्षुधा पिपासा को शान्त करना अपना, कर्तव्य समझा है। यही कारण है कि गाँव में

कोई भूखों नहीं मरता। इसी भोजन यज्ञ की स्वाभाविकता के कारण शहर के सलाम की तुलना में देहात का दाल भात (भोजन) रखा गया है। सलाम में किंचित उपेक्षा है, दाल भात में अपनापन है। एक में परम शुष्कता एवम् मशीनी भाव है, दूसरे में सरस व्यक्तित्व है।

किसान के जीवन का उज्ज्वलांश व्यक्त किया गया। अब इसका दूसरा रूप भी देखें। ज़माना बदला और किसान की उक्त विशेषता में भी अन्तर आने लगा। देखते देखते एक सौ वर्ष में ही महान परिवर्तन हो गया। पचास वर्ष पहले के समय को भी जिन्होंने देखा वे आज उससे तुलना कर चकित रह जाते हैं। किसान भी धीरे धीरे शहरी सलाम की ओर जा रहा है। अत्यन्त खेद की बात है कि उसके हल बैल वही रहे, ट्रेक्टर नहीं हो गए। खेत वही रहे 'प्लाट' नहीं हो गए। उसके मन्दिर, चौपाल और बरगद की घनी छाया वही रही, क्लब और पार्क नहीं हो गए। केवल किसान ही 'दाल भात' छोड़ कर 'सलाम, पर उतर आने को उद्यत है।

इसके कारण हैं। पहला मशीन युग और महायुद्ध जिसमें स्वार्थ पूर्ण पैशाचिकता को मानवता की छाती पर अबाध ताण्डव करने के लिए उत्साहित किया गया। दूसरा, अपनी पराधीनता जिसमें नृशंस साम्राज्यवादियों ने भारत के हृदय भाग को ही आक्रान्त कर दिया। तीसरा भगवान की लीला और प्रकृति का क्रोध, चौथा आबादी की वृद्धि, पाँचवाँ ग्रामीणों की दुर्बलताएँ। उक्त चार पर अन्यत्र प्रकाश डालेंगे। यहाँ पाँचवें कारण पर विचार करना है।

स्वार्थ और योग की भावना बढ़ गई है। सेवा और त्याग का सर्वथा अभाव है। वस्तु की कमी उतनी नहीं, जितनी प्रयोक्ता के हृदय में शुद्ध भावना की। सर्वस्व हथिया लेने के लिए आदमी आज जैसा उतावला कभी नहीं देखा गया। लालसाओं पर आँच आते ही वह बावला हो जाता

है। एक दूसरे को देखते जलना, बनैले जन्तु ऐवम् साँड़-भैंसे की तरह एक दूसरे को देखकर मनियाते फिरना एक साधारण बान हो गई है। बीस ग़रीब हैं, दो धनी हैं। दोनों धनी यदि चाहते तो दस ग़रीब पशु जीवन न बिताते। पर वे अपने तो मस्त हैं। जो बचता है उसे आपस में लड़कर व्यय कर देते हैं। कम होता है तो ग़रीब जैसे उनकी जादू की तिजोरी हैं। काम धेनु हैं। यथेष्ट मात्रा में दूह लो। जीवन में उन्हें देना कम परन्तु लेना अधिक है। इधर बीस ग़रीब भी वही स्वार्थ वाला पाठ रटते हैं। आपस में टकराते हैं। जो उनका है उसकी भी रक्षा नहीं कर पाते। वे बहुत चाहते हैं, अतः कुछ नहीं पाते। वे सहयोग, सद्भाव और सेवा का मेवा नहीं खाते अतः दरिद्र और कमज़ोर हो गए हैं। उन्हें सेंत के फूट के स्वाद का चस्का लग गया है। यह उनकी भीतरी कमजोरी है जो घुन की तरह लग कर उन्हें रिक्त बना रही है। भीतर आग लगा है और बाहर बवण्डर चल रहे हैं।

किसान मनसा कृपण होने लगे। कुछ स्वयं को भोजन नहीं दे पाते हैं, कुछ पशुओं को खूँटे पर बाँधकर मार रहे हैं। विवशता की पिपिहिरी बजाते, हुए दुर्भाग्य का ढोल पीटते उन्हें शर्म नहीं। कृपणता से न उनका लोक बनता है और न परलोक। चंचला को भला बाँधकर रखा जा सकता है? हाँ बहला कर, फुसला कर, बझाकर, काम में लगा कर इस चार दिन की चाँदनी को कुछ विरमा सकते हैं। हथेली पर दूब नहीं जमता उसी प्रकार लक्ष्मी अपनी ओर ललकने वाले जावों को आँख उठाकर भी नहीं देखतीं।

एक किसान परिवार का मालिक खलिहान से अनाज आते ही सब अपने अधिकार में रखता है। उसका ख्याल है कि घर वाले उड़ाते हैं। वह खाने भर तौल कर देता है। उस परिवार में अतिथि आ जाय तो मालिक पर वज्रपात जैसे हो जाता है। तरकारी शायद ही कभी बनती है। मालिक का कथन है कि यह बेकार का खाना है। ऊपर से

इस भरती को क्या आवश्यकता। इससे आदमी अधिक अनाज खा जाता है। सब लोग अधिक भोजन कर लेंगे तो कहाँ से आएगा ? परिणाम यह होता है कि मालिक की आँखों में धूल झोंक कर लोग घर का अनाज बरबाद करते हैं। अनाज काले बाजार में पहुँचता है। आज जमाने की कृपा से ऐसे भी किसान परिवार हैं जिनके घर काला बाजार चलता है।

मालिक गाँव भर घूमते हैं, जिस बनिए के घर सबसे सस्ता, सबसे रद्दी सामान मिलता है वहीं से खरीद कर लाते हैं। एक सेर दूध में चार सेर पानी डालकर बालकों पर बड़ा कृपा कर देते हैं। दही पर एकदम मार्शल्ला जारी रहता है। मिर्च मसाले का घर में प्रवेश वर्जित है। एकादशी व्रत रहने वालों पर परम प्रसन्न रहते हैं। बीमार होने पर घर वालों की रक्षा प्रकृति ही करता है। तुलसी का पत्ता और ढाई अण्डा मिर्च अन्तिम दवा है। छोटे छोटे लड़के इतने कष्ट झेलने की अनुभूति से छटपटाते हुए अपना रास्ता निकाल लेते हैं। मिठाई, खिलौना, पतंग इस प्रकार की वस्तुओं के लिए तरसते रहने का अपेक्षा वेकोई उक्ति लगाना अच्छा समझते हैं। मालिक के घर एक सज्जन मिलिटरी में हैं। लड़के उनके छोड़ हुए मिलिटरी के बेढंगे कुरते बड़े शौक से पहनते हैं। ईन कुर्तों का बड़ा बड़ा थैला उनके लिए बरदान स्वरूप हैं। वे साथियों का ताना सहकर भी यह दुर्लभ पोशाक धारण किए रहते हैं। मालिक से घुलमिल कर, उनकी सुर्ती, चुनौटी, चिलम, छड़ी, मिर्जई या ऐसी ही कोई चीज खोजने के बहाने' मालिक की सहानुभूति प्राप्त कर, अनाज वाले घर में पहुँच जाते हैं। फिर क्या ? जो कुछ भी मिला, मालिक को चकमा देकर, अपने कुर्ते की बड़ी-बड़ी थैलियों में कसकर नौ दो ग्यारह हो जाते हैं। इसी प्रकार औरतें और नौजवान भी किसी न किसी प्रकार घोर कार्पण्य से बचने वाले भाग को व्यय कर देते हैं। गुड़ का सारा मुनाफा चींटे खा जाते हैं।

यह कृपणता न केवल भोजन, वस्त्र, अतिथि सत्कार, मवेशियों को खिलाने, बच्चों के लालन-पालन आदि में की जाती है। देवताओं की पूजा में भी यह कृपणता अपना एक तर्क पेश कर देती है। मशहूर है कि एक बुढ़िया ने प्राणरक्षा के लिए नाव भर सोने की मनौती की बाद में मसूर की भूसी (खोलरी) सोने के लघुकण से भर कर गंगा में प्रवाहित करते हुए हाथ जोड़कर बोली, 'हे गंगा माता ! छोटी नाव नाव ही है और बड़ी नाव नाव ही है। अतः लो अपनी मनौती और प्रसन्न हो जाओ।" यही दशा ग्रामीणों की है। गरीबी की आड़ में वे अपनी कंजूसी प्रगट करते हैं। बुद्धि की कंजूसी, विद्या की कंजूसी, मान की कंजूसी, दान की कंजूसी और सबसे अधिक परिश्रम की कंजूसी वे करते हैं। 'अभावे शालि चूर्णम्' उनका मंत्र है। जीव के बदले वे चिल्लर प्रस्तुत करने में विश्वास करते हैं। कहा जाता है कि 'तै तो पाँव पसारिए जेती लाँबी सौर' आज वे पाँव को ही कम पसारने की बात सोचते हैं। कभी-कभी चादर भी कटवा देते हैं। आखिर पाँव सिकुड़ता या नहीं। वह तो किसी न किसी प्रकार, जाने-अनजाने पसर जाता ही है।

शूरता की कृपणता ने जैसे इस वैज्ञानिक युग में मानव को सर्वथा अरक्षित कर दिया है। उसे न अपने ऊपर विश्वास है न दूसरे पर। वह न अपनी रक्षा कर पाता है न दूसरे की। कभी गाँववाले तुच्छ पशु-पक्षियों की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगा दिया करते थे। बालक, यात्री, पशु, पक्षी और बेबस उसकी दया पाकर निहाल हो जाते थे। आज का किसान दिन भर संगीन जैसी लाठी लिए अपनी ईश्वर पर पहरा देता है, कहीं कोई एक तोड़ न ले। उसके मटर के खेत की एक छीमी भी मनुष्य क्या कौआ भी न तोड़ सके। उसके ज्वार बाजरे के खेत की एक बाल तो क्या एक दाने पर भी कोई पक्षी चोंच न मार सके। बस जो कुछ है, वह है। दूसरे जीव जीव

नहीं। दया और स्नेह की सरिता सूख गई क्या? अपरिचित तो क्या, परिचित स्वजन की रक्षा और सहयोग में भी कोर कसर करता है। पुराने समय की नहीं, हाल की एक घटना का क्या मर्मस्पर्शी वर्णन 'हरिजन सेवक' में छपा था:—

"एक शिकारी किसी गाँव में गया और एक मोर पर निशाना साधने लगा। एक देहाती ने उसे मना किया। पर वह शिकार छोड़ने को कत्तई तयार न था। इस पर देहाती मोर और शिकारी के बीच में आ गया। शिकारी जोश में था। उसने गोली दाग दी। देहाती घायल होकर गिर पड़ा। देहात के लोग दौड़े। ऐसा ज्ञात हुआ कि अब शिकारी के दिन आ गए। पर वह घायल देहाती किसी प्रकार शिकारी और भीड़ के बीच में आ गया और बोला—"आप लोग आपे से वाहर न हो। मैंने जब एक मोर को न मारने दिया तो इसे क्यों मारने दूँगा।"

यह ऊँची भावना आज हृदय के अजायब घर की वस्तु हो गई है। आदर्श रूप में, किस्से कहानी के रूप में, यह सामने आ जायगी। कभी यह यथार्थ और व्यवसाय था। प्रत्येक पुराना किसान इतना साधु उदार और बलिष्ठ हृदय का होता था कि वह जीव मात्र को अपनी कात्रा का अँग समझ कर थोड़ा बहुत उनकी रक्षा को उत्सुक रहा करता था। आज भी किसानों में जीव-रक्षा की यह भावना पाई जाती है। पर वह हार्दिक प्रेरणा और प्रभाव नहीं है। स्वार्थनिल में उसका कोमल-उपवन झुलस गया और करुणा की कमल कलियाँ मुरझा गईं।

हृदय का कोष लुट गया। कर्तव्य की सुन्दरता नष्ट हो गई। अब किसान बाहर का कोष बढ़ाने में दत्त चित्त है। अपने वाह्य रूप को चार दिन के लिए चमकाने लगा है।

लड़का सयाना हुआ। व्याह करना है। निवास स्थान को चूने से लीप-पोतकर सँवारा गया। चारपाइयाँ द्रुस्त हो गईं। बिछौने लगे

रहते हैं। जो द्वार पर गए कठिनाई से पानी पिलाते थे वे आज आग्रह पूर्वक भोजन कराते हैं। जो पानी पीने के लिए गमछे को खूँट में बाँधकर गुड़ लाया करते थे, वे तस्तरी में लड्डू रखकर लाते हैं। लाल-पीली डालियों में चिउड़ा-बताशा आता है। यह सब जाल रचा जाता है 'तिलकहरू' फँसाने के लिए, कीमत ऊँचा करने के लिए। व्याह हो जाने पर फिर वही पुराना चाल !

जिस प्रकार फैसन और व्यसन बढ़ा उसी प्रकार धर्म और दर्शन दर्शन की विचित्र-विचित्र भावनाएँ। जिस प्रकार आज का प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति जो अँग्रेजी के घोर प्रभाव में आ जाता है, धर्म और ईश्वर के नाम से चौंक जाता है। पूजा, पाठ, दया, दान और नैतिकता को बेवकूफी समझता है। उसी प्रकार देहात का प्रत्येक नौजवान इन बातों को मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता। रूढ़ि और परम्परा के नाम पर वह हर त्यौहार को व्रत, दान, होम संकल्प तथा ब्राह्मण आदि के खिलाने की व्यवस्था करता है पर हृदय से इन सब की महत्ता वह स्वीकार नहीं करता। सदा से ऐसा होता है, इसलिए ऐसा होना चाहिए। रहे पुराने लोग! वे एक अजीब तरह का ख्याल रखते हैं। आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत आदि पर बहस करने के लिए वे प्रस्तुत मिलते हैं। सच तो यह है कि पाखण्डी साधुओं ने इन चर्चाओं को एकदम सस्ता कर दिया है। भीतर मायाजाल रचकर सर्वस्वापहरण का कुचक्र चल रहा है और बाहर जीव-ब्रह्म की विवेचना हो रही है। श्रद्धालुलोग भी हैं। बड़ी तन्मयता से बैठकर ज्ञान की बातें सुनते हैं। सुनने मात्र से मुक्ति हो जायगी, ऐसा भी सोचते हैं। सुनी सुनाई बातें दूसरों से भी करते हैं। कथनी और करनी का यह महान अन्तर महान आश्चर्य में डाल देता है।

तीर्थव्रत में भी आस्था न रही। व्रत रूढ़ि के रूप में चलते हैं या कुछ पुराने लोगों की प्रेरणा से। वे स्कूलों की छुट्टियों के कारण

अधिक सामने आते हैं। तीर्थ अब औरतें अधिक करती हैं। उनके भीतर धर्म की भावना कम परन्तु इसी भाव से बाहर की दुनिया देखने की अभिलाषा अधिक होती है। इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि औरतों पर—देहात की औरतों पर वैज्ञानिक युग की हवा कम लगी है। अतः वे कुछ अधिक सीधी, धार्मिक और उदार हैं। यह घर के घेरे में बन्द रहने का वरदान है। दुनिया की नई रोशनी और नई हवा का प्रभाव उनके ऊपर कम है। कहीं कहीं तनिक भी नहीं है। ये अब बाहर निकलने लगें और उनके ऊपर भी नया रंग चढ़ जाय, आश्चर्य नहीं!

अनन्त चतुर्दशी, रामनवमी और कृष्ण जन्माष्टमी आदि त्यौहारों पर मन्दिर और मठों में इतना सीधा (खाद्य सामग्री यथा चावल, आटा, दाल, घी, नमक, हल्दी, दही और सब्जी) इतना अधिक पहुँच जाता था कि सन्त लोग वर्षों खाते थे और समाप्त न होता था। आज पिछले बर्तन में पसार कर आटा और ऊपर से एक पिंडा गुड़ की रख कर लोग दे आते हैं। फर्ज अदायगी भर हो जाता है। कारण; लोग धीरे-धीरे जानने लगे हैं यह सब दान आदि व्यर्थ है। इससे कुछ लाभ नहीं। अपने कमाना-खाना है। हृदय की श्रद्धा नष्ट हो गई। जैसे आदमी आदमी न रह गया। वह आज बुद्धि और तर्क की मशीन हो गया है।

किसान बात-बात में कलियुग की दुहाई देते हैं। देख रहे हैं कि पुत्र माता की चमड़ी उधेड़ देने के लिए तैयार है पिता से चिलम चढ़वा रहे है। पत्नी घर आते ही बूढ़े सास ससुर को धता बताती है। पति की कान फूँक लेती है। कान भर देती है और कभी कभी कान काट लेती है। वह उस नवयौवना की माया में अपने आदर्श को विसर्जित कर देता है। ऐसे समाज की उल्टी व्यवस्था देख कर ग्रामीण बड़ी शान्ति से और विश्वास के साथ कलियुग की दुहाई देते हैं। उसके दोषों

का वर्णन करते हैं। वह अन्तिन युग है। इसमें आदमी की बुद्धि मारी जाती है। इसलिए विनाश हो कर नई सृष्टि होती है।

गाँव वाले कलकी अवतार की चर्चा करते हैं। कहते हैं, यह औतार पृथ्वी पर का भाव दूर करने के लिए होगा। कलंके भगवान पृथ्वी के समस्त पापियों का मूलोच्छेद कर डालेंगे। इन विचारों से उन्हें बड़ी शान्ति मिलती है। यह कलंकी 'कल्कि' का अपभ्रंश है। विष्णु पुराण में लिखा है—

"अर्थ एवं अभिजन हेतुः, धनमेव शेष धर्म हेतुः, अभिरुचिरेव दाम्पत्य सम्बन्ध हेतुः, अनृतनव व्यवहार जय हेतुः, स्त्रीत्वमेव उपभोग हेतुः, ब्रह्मसूत्रमेव विप्रत्व हेतुः, लिंग धारणमेव आश्रम हेतुः।" (४-२४,२१)

तात्पर्य यह कि कलियुग में एक ऐसा समय आयेगा, जब धन ही प्रतिष्ठा का कारण होगा। धन ही धर्म का मूल होगा। स्त्री और पुरुष इच्छानुसार सम्बन्ध जोड़ेंगे और तोड़ेंगे। झूठा आदमी ही व्यवहार कुशल समझा जायगा। स्त्री भोग भी वस्तु रह जायगी। जनेऊ ही ब्राह्मणत्व का चिन्ह रह जायगा। बाहर की वेशभूषा की प्रधानता हो जायगी। यह लक्षण घनघोर कलियुग का है औ ऐसे ही में कल्कि भगवान के अवतरण की बातें कही जाती हैं।

किसान देखता है कि प्राचीन काल के पुराण लेखकों का भविष्यवाणियाँ आज सत्य हो रहीं हैं। तुलसीदास ने कलिधर्म जो निरूपण किया उसकी चौपाइयाँ उनकी ज़बान पर नाचती रहती हैं। विशेष कर यह कि—

मात पिता बालन्ह बुलावहिं।
उदर भरे सोइ धर्म सिखावहिं॥

इस सामाजिक ह्रास से किसान का हृदय रो रहा है। बाहर संस्कार

बश वे भी वही करने को बाध्य हैं जिसके कारण उनका हृदय दुखी, क्षुब्ध एवम् असन्तुष्ट होता।

एकादशी आदि को व्रत रखने का रवाज समाप्त होता जा रहा है। लोग एकदम स्वतंत्र हो गए हैं। मन पर धर्म का या ईश्वर का शासन नहीं है। किसान अशिक्षित अवस्था में अन्धविश्वास के कारण भी कुछ सुमार्ग पर बढ़ते थे। अश्रद्धा और स्वार्थ भावना के कारण वे जिस स्थिति में हैं उसे देखते हुए कहना पड़ता है कि इस अन्ध स्वेच्छाचारिता की अपेक्षा उनकी अन्धविश्वास से प्रभावित अन्ध परम्पराएँ कहीं लाख दर्जे अच्छी थीं।

स्थिति विचित्र दुहरी है। एक तरफ धर्म प्रधान पुरानी चलन है। दूसरी ओर नए युग की काम काजी लहर है। इन दोनों के बीच में किसान है। वह धीरे धीरे पुराने चोले को उतार कर रख रहा है। प्रत्येक वस्तुको कोई अपने लाभ के लिए देखने लगा है। होली के दिन उसके खेत की कटिया बन्द नहीं होती। दीवाली के दिन भी वह विराम नहीं लेता। त्रयोदशी को गंगा जल लाकर शंकर का अभिषेक करना आज व्यर्थ श्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझा जाता। भले ही बैठे-बैठे दिन कट जाय परन्तु वह ऐसा नहीं करेगा। पत्थर के चिकने ढेलों में आज कोई ठोस आकर्षण वह नहीं पा रहा है। संस्कार वश भले सिर झुका दे या किसी त्योहार पर एक लोटा जल चढ़ा दे। मन्दिर के देवताओं से अधिक शक्तिशाली वह भूत-प्रेत को समझ रहा है जो छठी का दूध उतार देते हैं। भूत के चौरे पर, ब्रह्म स्थान पर, इसीलिए तो देखा जाता है कि गठरी-मोटरी बाँधे, हुक्का-तम्बाकू लिए नर-नारी बड़ी दूर दूर से चले आते हैं। सात्त्विक पूजा की भावना चन्द पुराने किसानों में अवशिष्ट मिलता है। नए लोगों के लिए :—

"बसे बुराई जासु तन ताही को सम्मात,
भलो भलो कहि छोड़िए खोटे ग्रह जपदान।"

वाला दोहा उपयुक्त जान पड़ता है। सुख को सर्वथा पराक्रम ही माना जाता है। अध्यात्मिक सरसता कुछ पुराने त्यौहारों, परम्पराओं, पुराने लोगों, पुरानी पोथियों और विशेष कर रामचरित मानस एवम् ब्राह्मणों के कारण किसानों के भीतर टिकी है परन्तु वह स्वेच्छाचारिता के प्रवाह में कब तक टिकी रह सकेगी, यह कहा नहीं जा सकता। धर्म के परमाणुओं से जो स्वस्थ वायुमण्डल बनता है, श्रद्धा के सात्त्विक भावों से जो सुख सन्तोष प्रादुर्भूत होता है तथा त्याग से जो पूर्ण जीवन कमल खिलता है वह फिर से किसानों की दुनियाँ को बसाए। दुर्मति का चंगुल इन्हें कब तक अनजानी नरक यंत्रणा में ला लाकर गिराता रहेगा।

सहयोग और भ्रातृत्त्व के खण्डित होते ही किसान का पेट बड़ा हो गया। वह भरता ही नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि सारी दुनिया का भाग छीनकर खा जायेंगे तब भी नहीं भरेगा। मिलकर, बाँटकर और आवश्यकता के अनुसार खाना ये भूल गए हैं। भूल गए हैं कि हममें दूसरों का भी हक है। ईश्वर के पैदा किए सभी बेटे आपस में भाई-भाई हैं। दूसरों का ले लेना शान्ति का पथ नहीं है।

आज देने के नाम पर ग्रामीण दो चीज देते हैं। एक दान और दूसरा चन्दा। दान की थोड़ी चर्चा हो चुकी है। वह झख मार दिया जाता है जैसे "उधिआयल सतुआ पितरन के" वह भी सुपात्र कहाँ पाते? कुपात्र पाते हैं सो भी ठगबाजी द्वारा।

रहे चन्दे की बात। इसकी दशा बड़ी विचित्र है। कभी गाँवों में इतना संगठन था कि पटवारी और मुखिया मिलकर चन्दे की सूची बना दिया करते थे। यथा योग्य सब पर निर्धारित कर देते थे। बात की बात में चौबीस घन्टे के भीतर यह रुपया एकत्रित हो जाता था। यह सूची इतनी पक्की समझी जाती थी कि बहुत दिनों तक, जब तक फट न जाती थी चलती थी। दो सौ रुपये की, तीन सौ की, और इसी प्रकार पाँच

सौ आदि तक के लिए सूचियाँ रहती थीं। सभी ग्रामीण जानते थे कि इतने रुपए की नीधि समूचे गाँव को चन्दे के रूप में देनी है तो हमारा भाग पड़ेगा। चन्दा देना, जिस काम में सारा गाँव सहयोग कर रहा है उसमें अपना सहयोग देना लोग अपना कर्त्तव्य समझते थे। सहयोग और संगठन ऐसा सुदृढ़ था कि कोई सार्वजनिक निर्णय के भीतर मीन मेख नहीं कर सकता था। ऐसा बहाना भी कम सुनने को मिलता था कि "आज नहीं है।" सारा काम कैसे चलता है? भोजन वस्त्रादि का प्रबन्ध कैसे होता है? इससे भी आवश्यक चन्दा समझा जाता था। वह गाँव मर्रा भेजा होता था। उसका स्थान अपनी जरूरतों से ऊपर था। यही कारण था कि सार्वजनिक कार्य सुविधापूर्वक हो जाये करते थे उस समय यानी आज से पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व तक भी सार्वजनिक कार्य क्या थे? यज्ञ करना, किसी देवालय पर या किसी देवता के लिए उत्सब करना, राम-कृष्ण के जन्म दिन मनाना, रामलीलाओं की योजना, कथावार्ता की योजना, कोई साधू जैसे 'यवहारी बाबा' अपनी जमात के साथ पहुँचे तो उनका स्वागत करना, गाँव में साधुओं को रखना और उनका व्यय बरदाश्त करना, मन्दिर बनवाना, गरीबों की सहायता करना सार्वजनिक कुँआँ या देवस्थान बनवाना आदि। सार्वजनिक कामों में धार्मिक कृत्यों का प्राधान्य था। इसमें ग्रामीण जी-जान से सहयोग करते थे। इसमें उन्हें हार्दिक आनन्द प्राप्त हो जाता था। रस मिलता था। सद्भाव और कल्याणकर भावनाओं का परिपोषण होता था। निर्बैर और सुहृदता पूर्वक एकत्र होने, कार्य करने में भ्रातृत्व भाव बढ़ता था। वातावरण रंगीना, मोहक एवम् सुखप्रद होता था।

आज ऐसी बात नहीं है। आज का व्यक्ति पक्का स्वार्थी हो गया है वह सार्वजनिक कार्यों को बेवकूफी समझता है। चन्दा देने में नानी मरने लगती है। उसमें धर्म भीरूती नाम की चीज का सर्वथा लोप हो गया। न केवल वह स्वयं चन्दा देने में आनाकानी करता है अपितु दूसरों को

भी बहकावे में डाल देता है। हीन मनोवृत्ति की इतनी प्रधानता हो गई कि पार्टी तक हो जाती है। मारपीट, फौजदारी, रंडी-मुण्डी के नाम पर हजारों का बजट है, चोर सर्व स्वापहरण कर ले जायँ सब्र है, इति-भ ति सर्वनाश कारण बन जायँ आँखों से देख लेंगे एवम् कलेजे पर पत्थर रख कर देख लेंगे परन्तु एक रुपया भी किसी पुस्तकालय के लिए, अनुष्ठान के लिए, मन्दिर के लिए, साधु के लिए अथवा सीवान-मथार पर सार्वजनिक लड़ाई लड़ने के लिए नहीं देंगे। यदि दे दिए तो उस रुपए का 'खून हो गया' ऐसा समझ कर कलेजा फटने लगेगा। आपसी विद्वेष इतना घना है कि जो व्यक्ति किसी सार्वजनिक कार्य में आगे बढ़ता है वह अन्य लोगों को फूटी आँखों भी नहीं सुहाता। सोचते हैं कि अब तो इसका नाम हो गया। और न खेलने देते हैं, खेल ही चौपट कर रख देते हैं।

काश कि सार्वजनिक कार्यों में उमंग होती और चन्दा देना भोजन करने की तरह लोग जरूरी समझते तो इस ट्रैक्टर के युग में प्रत्येक गाँव की पैदावार और आय पाँच गुनी तक सरलता से बढ़ जाती। आधे से अधिक गाँवों में ऐसे कृषक हैं जिनके खेतों में हल-बैल की कमजोरी के कारण उत्तम पैदावार नहीं होती। सारे ग्रामीण सहयोग से एक एक गाँव के लिए सम्मिलित रूप से सिंचाई, जुताई आदि का यन्त्र खरीद लेते तो समय-श्रम के मित व्यय के साथ अपार लाभ होता।

चन्दे नहीं मिलते। कुछ देनेवालों की स्वार्थी मनोवृत्ति के कारण और कुछ लेने वाले यानी संयोजकों की लोभ-वृत्ति के कतिपय मिले पुराने उदाहरणों के कारण। ऐसा भी देखा गया कि सारी रकम किसी के पेट में हजम हो गई। डकार तक नहीं आई। अण्ट-सण्ट हिसाब सामने आ गया। नमक-तेल किसी का घर का चले, चन्दा इसलिए तो दिया नहीं जाता।

बुराई ऐसी फैली कि भलाई के रास्ते शनैः शनैः बन्द होने लगे।

जहाँ धार्मिक मनोवृत्ति शेष है, वहाँ सहयोग और शद्भाव के दर्शन करते हैं। स्त्रियाँ यद्यपि अशिक्षित हैं परन्तु पुरुषों से अधिक सहृदय हैं। इसका परिचय समय-समय पर मिलता है। 'झण्डा दिवस' पर सैनिकों के लिए प्रत्येक स्कूल पर चन्दा के लिए बक्स भेजे गए। जिसमें एक पैसा तक डालना था। स्कूल में बक्स सप्ताहों तक पड़ा रहा। गाँव में दो-तीन दिन घुमाया गया। उसमें वजन नहीं आया। अनुमानतः तीन-चार आने पैसे आए होंगे। अन्त में एक अनुभवी व्यक्ति की सलाह से एक स्त्री द्वारा स्त्रियों के समाज में वह बक्स काली जी की पूजा के नाम पर घुमाया गया। युद्ध की देवी काली जी सचमुच हैं भी। और सैनिकों की सहायता के लिए वह आन्दोलन था। रातों-रात बक्स भर गया। कुछ पैसे ऊपर से भी भेजने पड़े। प्राचीन धार्मिक रूढ़िग्रस्त आयोजन आज भी सफल होते हैं। यद्यपि आदमी ने आज कटिबद्ध होकर धार्मिक शासन मानने से इन्कार कर दिया है तथापि वह संस्कार और युग-युग की हवा का मुँह मोड़ने में मजबूर है।

ग्रामीण का अर्थ होता है 'सरल चित्त के सीधे लोग।' कभी ऐसे लोगों से गाँव भरे पड़े थे। तब सचमुच घी-दूध की नदियाँ बहती थीं। पुरुष 'धर्म' पूर्वक 'अर्थ' और 'काम' का आयोजन कर 'मोक्ष' के भागी होते थे। स्वार्थ और कुत्सित छीनाझपटी न थी। पृथ्वी 'धरणी' थी; 'रमणी' नहीं। वह पालन-पोषण कर्ता थी। न्याय बुद्धि से मानवों के पास रहती थी। रुपए पर उसकी खरीद-बिक्री और उसके लिए सिर फुटौवल तो नए युग की देन है। किसी जमीन में गाँव के किसान की सैकड़ों बीघे जमीन किसी अन्य के नाम से कागज में लिख गई। उसने स्वेच्छा से उसे जमीन वाले को वापस कर दिया। इस प्रसन्नता में उसके घर जब लड़की की शादी पड़ती है तो जमींदार किसान के घर से उतना गेहूँ जाता है जितने में पूरा हो जाय। यह

पुश्तैनी रस्म आज तक चला आता है। हाँ यह दूसरी बात है कि तब देने में हार्दिकता थी और आज विवशता है।

दुनियादारी इस सीमा तक फैली कि लोग सार्वजनिक रास्ते, चरागाह, मैदान और वाटिका तक हाथ साफ करने लगे। ऐसा ज्ञात होता है कि एक इँच भूमि ऐसी न बचेगी जिस पर आदमी या पशु खड़ा हो सके। प्रयास तो उत्तम है परन्तु है कोरा लोभ मात्र। यदि मानवता के भरण-पोषण या अधिक अन्न उत्पन्न कर राष्ट्र को अन्न संकट में त्राण देने की भावना से यह जोत बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता तो इसकी जितनी प्रशंसा की जाती थोड़ी होती। इस प्रयत्न का शुद्ध रूप वहाँ देखने में आता है जब एक बलवान किसान अपने डाँड़े के कमजोर किसान का भूमि कुछ अधिक बढ़ाकर अपने में मिला लेता है।

प्रायः प्रत्येक गाँव में बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस के रास्ते खेतों के बीच 'छवर' बनाकर छोड़े गए। दैव दुर्विपाक से वे आज एक इंच के भी नहीं रह गए। किसी ने सार्वजनिक रूप में सुस्वादु बेर की झाड़ियाँ लगाईं। आज के समझदारों ने उसे काटपीटकर ईंधन बना दिया और जमीन जोत में शामिल कर ली। गाँव का किसान ज्यों-ज्यों जमीन बढ़ाने, पेट बढ़ाने और लोभ को विस्तृत करने की अनुचित चेष्टा करता जाता है, त्यों त्यों पैदावार घटती जाती है और भुखमरी के निकट अभिमंत्रित सा स्वयमेव खिंचता चला जाता है।

गाँव के सरल सरस वातावरण को शहर के वकील-मुख्तारों ने अत्यधिक गन्दा कर दिया। ये वकील मुख्तार लोग अधिकांश गाँव के लोगों में से ही होते हैं। ये वे लोग होते हैं जिनके पिता ने गाढ़ी कमाई लगाकर शिक्षा से सौदा किया। सपूत बेटे ने वकील होकर सूद-मूल के साथ उसे अदा कर दिया। इसलिए कि ये लोग गाँव के होते हैं, गाँव की एक-एक नस से परिचित होते हैं। रात-दिन गाँव के

भोले-भाले लोग इन्हें घेरे रहते हैं। झूठ-फरेब, मोर-तोर के तिकड़म और प्रतिहिंसा-प्रतिकार के मकड़जाल सीख कर गाँवों में उसका प्रयोग करते हैं। ज्यों ज्यों वकील और मुख्तारों की संख्या बढ़ती गई है। गाँव के झगड़ों में भी वृद्धि होती गई है। गाँव की रौनक हवा हो गई। नौबत यहाँ तक आई कि आज का ग्रामीण अपने सहोदर या सहधर्मिणी पर से भी अपना विश्वास खो बैठा है। मुकदमों का मजबूत घेरा गाँव के जीवन को चतुर्दिक से घेर रखा है। किसी न किसी प्रकार सभी इस काजल की कोटरी की कालिख से चिन्हित हैं। शत्रुता और बैर के घेरे भी उसी प्रकार विशाल पैमाने पर प्रसारित हैं ? विरले ही किसान उसके बाहर हैं। इसी से हुक्के-पानी में सरसता नहीं रह गई है। त्यौहार पर लोग खुलकर गले नहीं मिलते। भोज भात में हार्दिकता नहीं रह गई है। शादी-व्याह के अवसर पर "अपने अपने मड़वे में अपनी अददी नाच और अपने अपने चौके पर अपने अपने गीत" वाली कहावत चरितार्थ होने लगी है। शत्रुओं का कपट पूर्ण सत्कार होता है और मित्रों से सशंक वार्तालाप होता है। मन में राम बगल में छूरी तो एक साधारण बात हो गेई है। 'कर में शहद हृदय में माहुर, अधिक तर देखा जाता है। कभी गाँव वाले अपने पराए में भेद ही नहीं मानते थे। जाने अन जाने सभी तरह के लोगों का दिल खोल कर सत्कार करते थे। यह स्वागत सत्कार ही उन्हें जैसे वरदान में मिला था। न कोई बनावट न दिखावट और न सजावट। जैसा सरल अन्तर है वैसा ही बाहर भी यदि कोई खोट है तो खोलकर रख देते हैं। भीतर वाले-पोस कर 'बैर' या "क्रोधका मुरब्बा" बनाकर नहीं रखते। व्यवहार का कपट हीन होना ही उनकी निजी गुण था ? ऐसा नहीं कि सभी पुराने किसान दूध के धोए होते थे। कुछ दुर्जन भी थे। आज जिस अनुपात में गाँवों में सज्जन हैं उसी अनुपात में पहले दुर्जन थे। इस दिशा में नगरों ने उन्नति की है। वहाँ सबका कार्य

पृथक पृथक है। यहाँ तो खेत-बारी सब एक में है। यहाँ कपट चातुर्य का अर्थ है अपने पैर में स्वयं कुल्हाड़ी मारना। अपनी संचित मानवता पर पानी फेर देना।

ईख का रस, साग, मटर की फलियाँ, होला, रंग-बिरंगे फल और सुन्दर-सुन्दर फूल आदि ग्रामीण वातारण को अत्यन्त सरस बनाए रखते हैं। इनके ऊपर कोई रोक नहीं। अतिथि के लिए जब दूध-घी को लोग कुछ नहीं समझते तो इन सब वस्तुओं की क्या कीमत है? ईख के खेत से रास्ता चलते बालक तोड़-तोड़कर चूसते हैं। शहरों में उतने रस के लिए मजे की कीमत चुकानी पड़ेगी। माघ-फागुन के दिन में थोड़ी सी नमक-मिर्च खूँट में बाँधकर खेतों की ओर निकल जायें। जैसे जगह जगह बिना मूल्य के भोजनालय खुले हैं। 'होला' जल रही है। जो आता है बैठता जाता है। खेत के चारों ओर जैसी आजादी से पक्षी खाते हैं वैसी ही स्वतन्त्रता से मेड़ पर बैठे किसान स्वाद लेते हैं। यही दशा फलों की है। प्रेम से राहगीरों को भर पेट आम का फल खिलाने का आदर्श है। इसमें बगीचे की शोभा समझी जाती है। बच्चे-बच्चे की नस-नस में यह भावना रम रही है कि ये सब वस्तुएँ बाँटकर खानी चाहिए। अकेले नहीं। आम, जामुन और कटहल आदि के बगीचे होते भी प्रचुर मात्रा में हैं। आम को लोग "इन्द्रासन का फल" कहते हैं। ऐसा विश्वास है कि जो बाँट-चूँटकर नहीं खाते उनके पेड़ नहीं फलते। जिस वर्ष आम मजे के आ जाते हैं किसान की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। उसका सारा परिवार तीन-चार महीने तक अमृत भोग करता है। संगी-साथी और पड़ोसी तक अघा जाते हैं। नाते रिश्ते के लोग-तृप्त हो जाते हैं। गाँव के बालकों का नित्य महोत्सव होता है। उनके लिए समूचे गाँव के बगीचे अपने हैं। हर पेड़ पर उनका दावा है।

इस प्रकार न केवल भोज्य अन्न अपितु बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं

जो ग्रामीण समाज को भोजन की दृष्टि से स्वावलम्बी, सुखी और सन्तुष्ट बनाती हैं। खरबूज है, तरबूज है, बेल है और कँकड़ी है। तरह-तरह के पदार्थ हैं। कहा भी जाता है। खेती-बारी साथ साथ। खेती में जैसी उदारता है बारी में वैसी ही सहृदयता है। दोनों में जीवन का स्वाद है। यह स्वाद किसान को शारीरिक एवम् मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है। किसान के स्वभाव में, संस्कार में और सार्वजनिक जीवन की प्रणाली में खेती-बारी से उत्पन्न यह रमणीयता रम रही है। भोजन के तत्त्वों का वैज्ञानिक विश्लेषण भले वह न जाने पर सहज सुलभ वस्तुएँ उसे पूरा पूरा पोषण तत्त्व प्रदान करती हैं।

समय के फेर से उक्त स्वर्गीय भावनाओं पर लीप पोत कर चौका लगता चला जा रहा है। प्रत्येक वस्तु की कीमत अब लोग रुपए, आने और पैसे में आँकने लगे हैं। बालकों तक में स्वार्थ, लाभ और अपनत्त्व की भावना प्रविष्ट होती जा रही है। उन्हें रात दिन 'हमारा-तुम्हारा' पढ़ाया जाता है। यह भी स्थिति कहीं कहीं पैदा हो जाती है कि जिस किसी के खेत से चाहें होल नहीं उपार सकते। रास्ता चलते ईख तोड़कर गाली पायेंगे और प्रत्येक बाग में सहज आतिथ्य के हम हकदार नहीं रह गए। साग तक पर लोग मुहर लगा देते हैं। अगहन पूस के महीने में नीलम के लोम की भाँति पृथ्वी पर पौदों का बचपन लहरा उठता है। दिशाओं की गोद में कंचन बरस बरस पड़ता है। हरीतिमा के उस विशाल महासागर में अधिकार का भँवर क्यों? वह तो आनन्द और सुख से जीवन तरीं को चलने नहीं देता। गाँव की छोटी छोटी लड़कियाँ और युवतियाँ जब चने का साग खूँटने के लिए गोल के गोल निकलती हैं तब ज्ञात होता है जैसे वनस्पति देवी ने साकार होकर दिवाभिसार प्रारम्भ कर दिया है।

कहीं कोई नमक मिर्च के साथ हरा हरा, रूखा, भीन और कचकचा स्वाद चने के साग में उड़ा रहा है। कहीं कोई तान छेड़ रहा है।

स्वर्गीय आनन्द है। ऐसे समय में यदि कोई चिल्ला कर गाली बकना और खेत से खदेड़ना प्रारम्भ करता है तो कलियुग याद आ जाता है। गाँवों में कभी कभी डुग्गी पिटवाई जाती है कि 'कल से यदि कोई साग खूँटता पाया जायगा तो इतना रुपया उसपर जुरमाना होगा।' जमाना क्या से क्या हो गया ! खेत वाले करें भी तो क्या करें। साग खूँटने वालों में से भी कई दुष्टता के औतार होने लगे हैं। मारा कि आधी फसल ही मूँड़ लाए। मानव नहीं मवेशी उसे खा रहे हैं ! ऐसी दशा में साग पर प्रतिबन्ध लग गया तो क्या आश्चर्य ?

जब आँधी आती है तो झुण्ड के झुण्ड लड़के गाँव के बाहर बगीचों की ओर दौड़ते हैं। "आँधी पानी आवेला, चिरइया ढोल बजावेली" उनकी कविता है जो उक्त अवसर पर सबके मुँह से अनायास फूट निकलती है। एक युग से गाँव के लड़के इन पंक्तियों में हार्दिक आह्लाद का अनुभव करते चले आए हैं। इन्हें दुहराते हुए वे घर से निकलते हैं। आँधी पानी के साथ आ गई। चिड़ियों ने प्रसन्न होकर ढोल बजाना शुरू कर दिया। कविता का अर्थ यह ह। आँधी में ढोल तो वास्तव में लड़के ही बजाते हैं क्योंकि बगीचे में आम लूटने का अवसर उन्हें मिलता है परन्तु अपनी प्रसन्नता को उन्होंने चिड़ियों के मत्थे मढ़ दिया। ऐसी दशा में आज एक बात दुखप्रद हो गई है। गाँव के बाहर होते ही बालकों को अपने-पराए बाग और अधिकार की भावना सताने लगती है। जमाना न रही कि बच्चे सबके बगीचे को अपना ही समझें !

विश्वास नहीं होता जब यह सुनते हैं कि अमुक गाँव में आम के एक टिकोरे के लिए मारपीट हो गई और कई आदमी घायल हो गए। अमुक व्यक्ति ने अमुक के खेत से उखाड़ कर होला जलाया तो उसने चिढ़कर उसका सारा खेत ही स्वाहा कर डाला। अमुक के लड़के ने अमुक के खेत से स्कूल जाते समय एक ईख तोड़ ली सो उसने

ऐसा तमाचा जड़ दिया कि चेहरे पर पाँचों उँगलियाँ उभड़ आईं। जैसा मातादाई का थापा दिया गया हो।

लोग कहते हैं कि पहले किसान के खेत में जितना अन्न गिरता था उतना अब पूरे जोत में भी नहो गिरता है। पहले प्रति वर्ष बगीचे आते थे। अब दो-दो वर्ष पह आते भी हैं तो ऐसे कि आम के लिए जी लुलुआ कर रह जाता है। जहाँ पर लक्ष्याहुति उड़ाने के लिए रसीले फल के टीले लगा दिए जाते थे वहाँ किसान घर के किसी एक कोने में एकाध टोकरी फल बाग से ले जाकर यत्न से रखता है कि बच्चों का काम चले। ऐसे अवसर पर किसी महात्मा का वचन याद आ जाता है कि "बगीचे नहीं फलते, खेती नहीं फलती, आदमी की भावनाएँ फलती हैं।" कभी किसान अत्यधिक उदार रहा। तब प्रकृति भी बेहद सदय रही। आज वह जैसे कौड़ी-कौड़ी जोड़ता है वैसे ही प्रकृति उसे हिसाब देती है। किसानों का कथन सत्य है कि बाग बगीचे जानदार होते हैं। वे धार्मिक भावनाओं के रस से सिंचित होकर फलते फूलते हैं। जिस प्रकार यह सत्य है कि धार्मिक वातावरण वाले परिवार में जहाँ स्त्रियाँ साधु, गुरु देवता, तुलसी आदि की पूजा, अर्चना, धूप, बत्ती, आरती और बन्दना आदि हार्दिक भाव से करती हैं वहीं महापुरुष, विद्वान एवम् उद्धारकों का जन्म होता है उसी प्रकार यह भी सत्य है कि जिस किसान की खेती-बारी का मुख्यांश उदारता पूर्वक जीवमात्र के लिए व्यय होता है उसी की गृहस्थी फूलती-फलती है। उसी की रोजी में बरक्कत होती है। जिसे सदा अपने पेट की हाय-हाय है, जो सदा दूसरे के पेट को कोसा करता है, उसका पेट जन्म भर नहीं भरता।

किसान सरल न रहे, कुटिल हो गए। युग की अनवरत निष्ठुर ठोकरों ने उसे ऐसा बना दिया। वास्तव में वह वैसा है नहीं, जमाने ने उसे बना दिया है। उसकी सरलता और सिधाई ने शोषण को अवसर दिया

और समाजके शीर्षस्थ लोगों ने निर्दयतापूर्वक उसका निःशेष दोहन कर डाला। किसी धर्मशाले में पथिक बनकर चोर आ गया और रात में सर्वस्व मूसकर चम्पत हो गया। तो क्या आइन्दे उसमें मुसाफिर नहीं टिकाए जायेंगे? दूषित मनोवृत्ति के लोग प्रत्येक काल में होते आए हैं। किन्तु सज्जनता के प्रकाश में उनका तम-तोम मुँह चुराए रहता है। यहाँ गाँवों की दशा विचित्र है। यहाँ प्रकाश दिखाई ही नहीं पड़ रहा है। जिधर देखते हैं अँधेरा और शोषण। विद्यार्थी अपने अभिभावकों का शोषण करता है। उनसे पैसा, समय, आशा और प्यार लेते हैं। समय का दुरुपयोग करते हैं। आशाओं पर तुषारपात कर देते हैं तथा प्यार को ठोकर मारते हैं। स्त्रियाँ घर के मालिक का, मजदूर बाबू का, बाबू मजदूर का, किसान खेत का, खेत किसान का, मनुष्य जानवरो का, कानून मनुष्यों का, जवान बूढ़ों का, बाजार बनियों का, व्यापार खेती का इसी प्रकार ढकोसला सदाचार का शोषण करता है।

साँड़-भैंसा लड़ाते लड़ाते किसान स्वयं लड़ने लगता है। दूसरों को वैसे ही लड़ाने लगता है। एक गाँव में किसी दूसरे गाँव का साँड़ या भैंसा आ गया तो किसान लाठियाँ लेकर, व्यूह बनाकर उन्हें बिना लड़ाए मानेंगे नहीं। इस लड़ाई के लिए बैंड नहीं बजता उसकी जगह अनेक मुँहजोर से "डिबी डिबी" अथवा 'हो हो' शब्द का उच्चारण करते हैं। वे जानवर आत्म विस्तृत होकर युद्ध करने लगते हैं। ठीक यही दशा किसान की है। न वे शान्ति से रहते हैं और न दूसरों को रहने देते हैं। कोई लकड़ी ऐसी अवश्य फेंकेंगे कि शान्ति से जीवन बिताने वाला—अपनी मस्ती में झूमता रहने वाला—साँड़ जैसा स्वाभिमानी क्रोध में हँकड़ने एवम् अखाड़ने लगेगा।

भोजन सामग्री की सुलभता बेकारी बढ़ाती है। जब पेट जलने लगता है तो उद्योग सूझता है। जब कठिनाई पड़ती है रास्ता तो

निकलते हैं। आम धारणा कि श्रम रोटी के लिए। अब यदि यह रोटी रूखी-सूखी या कम है अथवा सरस के साथ पर्याप्त है, यह दूसरी बात है। इसी के साथ एक गलत धारणा यह भी जम गई है कि सुखी यह भी जम गई है कि सुखी का अर्थ है कम श्रम करने वाला। अब इन दोनों बातों को एक में जोड़कर जो चाहता है सुखी होने का नुस्खा तैयार कर लेता है? कम मेहनत में ही दो सूखी रोटियाँ यदि मिल जायँ तो क्यों एड़ी का पसीना चोटी तक ले जायँ? ऐसा आदमी अपने जन्म को अपने लिए ही मानता है। नर नारायण की सेवा कहाँ? अपने श्रम में वह कटौती करके न केवल वह अपना बल्कि अपने कोटि-कोटि भाई-बहनों का पेट काटता है।

यह 'कम श्रम' करने की मनोवृत्ति बिल्कुल ही श्रम न करने की पृष्ठ भूमि तैयार कर देती है। यहीं से परम बेकारी का सूत्रपात होता है। एक आदमी भूख से व्याकुल चला जा रहा है। कहीं किसी के निवास स्थान के सामने वटवृक्ष के नीचे दम मारने लगा। किसी ने समाचार पूछते-पूछते खिला-पिला कर अपने गृहस्थ धर्म का विधिवत् पालन किया। अब वह आदमी दूसरे दिन किसी के दरवाजे पर चढ़ गया और तीसरे दिन पूरा भिखमंगा हो गया। आराम से रोटी चलने लगी। ऐसे ही बड़े परिवारों में कितने लाज शर्म घोलकर पी जाते हैं। दिन भर घूमते रहते हैं। खाने के समय जाकर चौके की शोभा बढ़ाते हैं। कौन बोलने जाय। कभी कभी परिवार का मुख्य-कर्ता ही पहले दरजे का आलसी निकल जाता है' परिवार भूखों मरने लगता है। खेत बारी तथा औरतों के गहने-गुरिए बन्धक ले वायुयान पर चढ़कर उडने लगते हैं। भोजन सामग्री की सुलभता एक बार आलस का रास्ता दिखाकर चम्पत हो जाती है। जब शरीर के पसीने की बूँद खेतों में नहीं गिरतीं है तो एक प्रकार से उन्हें भी पैदावार देने के कर्तव्य से जैसे छुट्टी मिल जाती है। चाहिए तो यह कि जब थोड़े

श्रम से काम चलाऊ रोटियाँ मिल पाती हैं तो पूरा श्रम करें ताकि भरपूर रोटियाँ उपलब्ध हों। हमारे किसान ठीक-ठीक इसके विपरीत आचरण करते हैं। वे धरती की देन का उपहास करते हैं।

ऐसे भी किसान हैं जो धर्म कर्म करते हैं और सोचते हैं कि भगवान जो देता है काफी है। कृषि से दूर रहते हैं। कृषि की महत्ता का गुणगान करने लगते हैं तो थकते नहीं पर स्वयं कुछ करना धरना नहीं। शायद धर्म कर्म खेती से जी चुराने का एक बहाना होता है। कुछ कर्मठ और धर्म की प्रबजनिष्ठा वाले किसान भी होते हैं। इनके अनन्तर रस से धरती सिंचती है। सोना उगलती है। कावड़े की चोट में और हलकी नोंक पर ये पूजा की सामग्री देखते हैं! कृषक के लिए कृषि से बड़कर धर्म कर्म और क्या होगा? वह स्वयं एक महती पूजा है। कोई एक दो फूल किसी देवता पर चढ़ाता है। किसान अगणित पुष्पों का उत्पादक और पालक है। सब नैसर्गिक रूप से विश्वदेव के चरणों पर अभिषिक्त होते रहते हैं। वह अपनी इस महिमामयी पूजा से करोड़ों भरण-पोषण का वरदान जाने-अनजाने प्राप्त करता है। बुभुक्षित आत्माओं के लिए वह अभिमत फलदाता पारिजात है। अन्न ब्रह्म उसके श्रम की गोद से अवतरित होता है। शंकर की बट्टियों से अन्न के दाने क्या कम सुन्दर हैं? साक्षात् अमृतत्त्व की घूँट ही जैसे पुंजीभूत है क्या खेतों का सिंचन अगणित ईश्वरांशों का शुमार धन नहीं? विश्व मन्दिर की सचल मूर्तियों का राग-योग कौन योजित करता है? सोचने विचारने की बातें हैं।

धर्म की भावना आज ठगे जाने का उपकरण बन गई है। खेत से हलवाहा हल लेकर आता है। उसकी मजदूरी में घर का सबसे रद्दी अनाज जो सड़ा गला होगा दिया जायगा। तिसे भी जैसा कि पिछले अध्यायों में वर्णन हो चुका है ईंट के उस सेर से तौल कर दिया जायगा तो बर्तन साफ करते करते घिस गया है।

सो भी प्रति दिन नहीं। सप्ताह में किसी एक दिन; इतने पर भी सम्पूर्ण मजदूरी नहीं, बाकी लगाकर तथा कभी-कभी कुछ घालमेल करके। विपरीत इसके अगर दरवाजे पर लम्बा-चौड़ा बना-ठना १०१ नम्बर या किसी अन्य नम्बर का प्रशस्त टीका छाप ललाट पर धारण किए, झोली, लोटा, डोर, डोलची लटकाए कोई बाबाजी नामधारी जीव आ गए और दरवाजे पर "जीती रहो जजमानी, धन-दौलत पुत्र-नाती से घर भरा रहे, बड़ी भाग्यशाली हो, तुम्हारे द्वारे पहर भर सोना बरसे" आदि की ललित लहरी पूरे गद्य काव्य के प्रवाह में लहरा दिए तो गृहस्वामिनी का हृदय भी उद्वेलित हो गया। जजमानी ने जो माँगा सो सब बाबाजी ने दिया। अधिकांश पुत्र माँगती हैं। अरे अब कितने पुत्र पैदा करोगी? पुत्र तो इतने पैदा हुए कि स्टेशन के प्लेट फार्म पर अन्न के बिना तड़प तड़प कर मर जाते हैं। गली गली कुत्ते-बिल्ली से बिलबिलाते रहते हैं।

बाबाजी के लिए डाली भरकर गेहूँ भीतर से आया। ऐसे एक नहीं दिन में कितने ही बाबाजी लोग आते हैं तथा अपने वेश, अपनी वाणी की योग्यता के अनुसार चेता लेते हैं। कोई हाथ देखता है, कोई मुरछल घुमाता है, कोई 'चम्मल' भरवाता है। कोई शीशा संकल्प कराता है। कई कई तो पुश्तैनी होते हैं। किसानों के सामाजिक जीवन में धर्म आज जोंक की तरह लग गया है। धर्म का नाम पर किसी सच्चे साधु और गरीब की मदद करने वाले अथवा सेवा करने वाले कम हो गए।

बैल से बड़ा साधु कौन है? हलवाहे से बड़ा ब्राह्मण कौन है? किसान इन्हें दो कौर जैसे तैसे फेंक देते हैं। इनके शरीर का मांस धर्म के ठेकेदारों के शरीर पर चढ़ती है। तब भी ये सूखी ठटरी लिए किसान का पालन-पोषण करते हैं।

धर्म भीरुता की भाँति स्वागत सत्कार ग्रामीण मनुष्यों की एक विशेषता

ह किसी को एक लोटा शीतल जल और मुट्ठी भर चना लिए वह युग-युग से अतिथि के लिए हाजिर रहता आया है। उसे यह किसी ने सिखाया नहीं। सेवा की यह भावना उसके रक्त में बहती है। उसकी दुनिया में यह बात बेहद बेढंगी और अशिष्ट समझा जाता है कि कोई द्वार पर आया तो सर्व प्रथम उसका परिचय और आने का उद्देश्य पूछा जाने लगा। उसका आदर्श है; प्रथम उस शीतल जल तथा साग-सत्तू से सन्तुष्ट करना। इसके पश्चात् कुशल समाचार के सिलसिले में परिचय तथा अन्त में उद्देश्य। सभी अतिथि समान हैं। वे भगवान् के रूप हैं। भाग्य से उनका चरण गृहस्थ के द्वार पर पड़ता है और पवित्र करता है। इसलिए एक पैर पर खड़ा रहकर किसान अतिथि का स्वागत सत्कार करता है।

आज गरीबी की मार इतनी कड़ी पड़ी कि यह स्वागत सत्कार भी दम तोड़ रहा है। हार्दिक भावोल्लास नहीं रह गया है। पूछ भर दिया जाता है पानी के लिए। मँहगा में ईश्वर न करे कि किसी के घर मेहमान आए। जहाँ अपने लिए अजोह मामला चार दिन के कठिन उपवास के पश्चात् मिला मुट्ठी भर सत्तू याचक की आवाज पर एक महादानी ने उसकी ओर बढ़ा दिया। एक बहुत बड़े यज्ञ की कल्पना की गई बस इस महादान पर वैसा आत्मबल, वैसी दिव्य भावना और वह उच्च कोटि की दान शीलता आज कहाँ है? थोड़ी बहुत जो शेष है, उसे देखकर उस महानता की सत्यता को मानने से इनकार नहीं कर सकते परन्तु आज के युग में, पाई-पाई, रत्ती-रत्ती का हिसाब रखने वाले युग में वैसे अतिथि-समादर की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

यह बात नहीं है कि आज लोग एक दम बर्बर तथा जंगली हो गए हैं और स्वागत सत्कार करते ही नहीं। हाँ, शैली और भावना में

अन्तर आ गया हैं। आज का ग्रामीण सबसे अधिक—दामाद से भी अधिक स्वागत सत्कार करता है थानेदार साहब लोगों की उतनी सेवा शायद ईश्वर उतर आएँ तो वह न करे। एक पैर पर खड़ा रहता है। सिर पर पैर उठा लेता है। एक एक फरमाइश को बड़ी लगन और फुर्ती से पूरा करता है। "दसो नह जोर कर" सेवा में हाजिर रहता है। यद्यपि वह अन्य प्रकार के अतिथियों और नातेदार लोगों का स्वागत करता है तथापि इसमें तथा उसमें अन्तर होता है। जिससे जितना ही घोर स्वार्थ है अथवा भय है उसका आज वह उतना ही अधिक स्वागत करता है। स्वागत में व्यक्तिगत नाते का प्राधान्य हो गया है।

यह स्वागत भी कहीं कहीं बड़ा विचित्र होता है। कम भाग्यवान ग्रामीण हैं जो मनोनुकूल खातिरदारी कर पाते हैं। किसी के घर से गिलास, किसी के घर से अचार, किसी के घर से कुछ और किसी के घर से कुछ। बड़ा भार सा होता है यह। पर गरीब करें क्या? सबसे विचित्र दृश्य होता है तब जब किसी गरीब गृहस्थ का लड़का सयाना हो गया और द्वार पर आने वाले प्रत्येक अतिथि को वह तिलकहरू समझने लगता है। बिछौना, तकिया, खड़ाऊँ, ग्लास, पीढ़ा, थाली, पंखा, हुक्का और बर्तन आदि घर घर से माँग कर आया। पूरा भानमती का पिटारा हो गया। धनी गृहस्थों की बात कुछ और है। गरीब विपन्नता की बेबसी के लिए धनी हैं। उनका उल्लास, उनकी हार्दिकता, उनका प्रेम, उनकी सरसता अब भी द्वार पर आए अतिथि के लिए फूट पड़ती है। वे सर्वस्व वंचित हैं, यह सत्य है। किन्तु यह भी सत्य है कि भारतीय किसान दिल खोलकर स्वागत करने में अपनी पुश्तैनी विरासत एकदम नहीं खो बैठे है। समय की चोट से उनका दिल हिल रहा है परन्तु "और वर्ग बना हुआ न किसान बिगड़ा हुआ।"

हँसी हृदय का विकास है। "जब भीतर आनन्द की लहरें उठती हैं तब मुख पर उनकी रेखाएँ उभर आती हैं। इसके लिए धनी और निर्धन की कोई शर्त नहीं। एक निर्धन अपनी जीर्ण-शीर्ण कुटी में परम सन्तोष का जीवन व्यतीत करते हुए अपने निर्मल हास से वातावरण मनोमुग्धकारी बनाए रखता है और एक धन कुबेर अपनी मनहूस सूरत से, जो सतत् अर्थचिन्तन से 'अर्थक्रीड़ा' अथवा 'अर्थपिशाच' सी हो जाती है, वातावरण में दम घोंटने वाला सन्नाटा भर देता है। हँसी पर बाह्य-प्रकृति का भी प्रभाव पड़ता है। खेत की मेड़ पर जो अकृत्रिम तथा निर्दोष हास्य का जो फौवारा फूटेगा वह किसी आफिस की कुर्सी पर से सर्वथा भिन्न होगा। प्रकृति के खुले क्षेत्र में रहने का यह सौभाग्य किसानों की ही कुण्डली में पड़ा है। जहाँ पर पक्षी दिन-रात हसते रहते हैं। सूरज हँसता है। चन्द्रमा हँसता है। तरु-पल्लव हँसते हैं। नदियाँ, तालाब, वन: बगीचे सब हँसते रहते हैं। पशुओं का मूक हास्य उनकी अन्तर ध्वनि में सतत् मुखरित रहता है। किसान के खेत हँसते हैं। पुर और रहट के 'घर-घर-घर' शब्द में 'चों-चों-चों' शब्द में उसके कुएँ हँसते रहते हैं। स्त्रियों के कलहास से पनघट विहँसता रहता है। ऐसे हास-विहास के नैसर्गिक क्षेत्र में रहता है किसान। अतः उसकी हार्दिक प्रफुल्लता प्रकृति प्रदत्त ही ठहरी। गर्मी के दिनों में बरगद, पाकड़ या पीपल अथवा नीम की सघन छाया के नीचे लेटकर हुक्का गुड़गुड़ाते अथवा बैठकर रस्सी बटते, गप्प हाँकते, पोथी बाँचते हुए हँसी का जो निर्मल श्रोत प्रवाहित रहता है वह अन्यत्र कहाँ ? किसान की यह विशेषता है। वह सुख-दुख भूलकर थोड़ा आनन्द कर लेता है। गरीबी को भुलाकर हँस लेता है। आखिर प्रकृति उसे दिन-रात हँसना सिखाती है तो दुनिया के कांटे उसे कितना रुला पायेंगे।

अवश्य ही किसान हँसता है। तब भी हँसता है जब कि उसका हृदय रोता रहता है। गरीबी की जिह्वा ने उसकी हँसी की चटकीली

चटक चाट डाली। उसकी हँसी में किंचित् फीकापन आ गया। दशा यहाँ तक गिरी होली-दीवाली पर भी किसान खुलकर हँस नहीं पाता। भग्न घर, बरसाती घास की तरह बढ़ता ऋण एवम् ब्याज। पैदावार की घटती के अनुपात में बढ़ता हुआ परिवार। लड़कियों की शादी, बैल, बीज कपड़ा, लत्ता की व्यवस्था बवण्डर में उसका मन ऐसा उड़ा रहता है कि हँसने की फुरसत ही नहीं मिलती। दिन भर परिश्रम करना और शाम को मुँह लटकाए घर आना, गाय-बैल, बाछा को खिलाना-पिलाना, दो चिलम तमाखू पीना और सो रहना। बातें एकदम काम की और यदि फुरसत है तो गाँव में की, इधर-उधर की, उलूल-जुलूल और बेकार की, प्रत्येक बात, प्रत्येक घटना में कुछ अपना मतलब, कुछ अपना प्रश्न, कुछ अपना स्वार्थ और प्रतिक्रिया आदि आदि सम्मिलित रहती हैं हँसी-ठट्ठा बैर-विरोध का कारण भी हो जाता है। कभी-कभी उसमें विष के बाण छिपे रहते हैं। उनसे वार किया जाता है। जब तबीयत में ही फूल निवास नहीं करते फिर हँसी का सुबास फूटेगा कहाँ से ? यहाँ तो कांटों का राज्य है। फिर वह मुँह से शूल बनकर निकला तो क्या आश्चर्य ? क्रोध और द्रोहदाह बारूद की तरह सदा जमा रहता है। व्यक्ति-व्यक्ति ज्वालामुखी बना रहता है। वह हँसता नहीं विस्फोट करता है। किसान अपने इसी विस्फोट में जलते-जलते इतना जल गया कि पहचान में नहीं आता।

ग़रीबी की मार से रौनक हवा हो गई। जितना छूछा ग्रामीण का घर है उतना ही सूखा उसका हृदय भी है। फटी धोती पहने, आधा पेट खाकर तथा तंगी के कोड़े का प्रहार सह कर वह जीवन काट देता है। सावन भादो नहीं किसान की आँखें बरसती हैं। बिजली नहीं, किसान के अरमान चमकते हैं। बादल नहीं, निराशाएँ गुरु गर्जन करती हैं। नदी नद नहीं उसकी कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ बढ़ती हैं। शिशिर हेमन्त में ओस से धरती तर नहीं हो जाती, किसान के रुदन कणों से

संसार गोला हो जाता है। कड़ाके की ठंडक में किसान जलता रहता है। उसकी यह जलन भूख की होती है। हायरी मुमुक्षा ! तेरे प्रभाव से गरमी में किसान ठण्डा पड़ जाता है। चारों दिशाओं से उसकी आशाओं पर धूल के झोंके पड़ने लगते हैं। सुकोमल तथा सुचिक्कन भावनाएँ किरकिरा जाती हैं। उसके मन की तरह उसकी दुनिया, उसके घर और उसका समाज धूमिल, उदास और मनहूस होता है। पग-पग पर बाधाएँ और रुकावटें हैं। वह चल नहीं पाता। क्षण-क्षण में भूख की ज्वालाएँ उठती हैं इसलिए वह बैठ नहीं सकता। विचित्र गति है।

किसान तपस्या करता है। वह भी साधारण नहीं परन्तु उसे कुछ नहीं मिलता। अनन्त तपस्या ! अनन्त आत्म त्याग !! दधीचि की भांति अपनी अस्थियों तक का प्रदान !!! टूटे फूटे घर में रहना, फटे पुराने साधारण वस्त्रों का भी अभाव, उपवास पर उपवासः फिर तपस्या अब कौन सी रोब रही ? एक तरफ अन्न की इतनी अधिकता कि खाने वाले नहीं हैं और दूसरी तरफ उसके उत्पन्न करता इतने बेबस कि अन्न बिना प्राण तक त्याग करते हैं। यह एक विचित्र स्थिति है। बीसवीं शताब्दी के मानवों का, जिनका ज्ञान-विज्ञान आकाश का चुम्बन करने चला है, इस दुर्गति में देखकर सोचते हैं कि आखिर यह सब किसके लिए ?

पहले रहने लायक गाँव ही समझे जाते थे। अब ऊँट ने ऐसी करवट ली कि रहने योग्य शहर ही हो गए। गाँव की परिवर्तित हो। गए। शहरी की सारी गन्दगी गाँव में चली आई। भोजन की समस्या पर विचार कर चुके हैं। आज गाँव वाले उपवास करते हैं और शहर वाले भोजन। यह कटुसत्य है। नियंत्रण के युग में एक निश्चित मात्रा में ही सही, मिलता तो था न गेहूँ और चावल आदि अपेक्षा कृत सस्ते भाव पर ! गांव का एक किसान जो गेहूँ पैदा करता है उसका दर्शन नहीं कर पाता ! शहर का एक मजदूर उसे खा रहा है !

गाँव स्वास्थ्य बर्द्धक समझे जाते हैं। यहां के निवासियों को विशुद्ध और ताजी हवा मिलती है। धीरे धीरे इस विशेषता पर भी प्रश्न वाचक चिन्ह लगने लगे हैं। गांव के भीतर घुसने पर पता चलता है कि नरक-कुण्ड में घुसे जा रहे हैं। कूड़ा कचरा यत्र तत्र बिखरा है। मध्य गाँव में सार्वजनिक शौचालय के दर्शन होते हैं। नारी-मोरी का गँदला पानी स्वतंत्रता से मुख्य रास्तों पर अपने प्रवाह से दुर्गन्धपूर्ण काली रेखाएँ खींचता रहता है। सर्वत्र कुत्ते और आदमियों के मल-मूत्र दृष्टिगोचर होंगे। गन्दी तथा अपवित्र हँडिया और ऐसे रंग-बिरंगे पात्र दृष्टिगोचर होंगे। मिट्टी के ढेले, घूर-कतवार, धूल और काँटों का राज्य है। पता नहीं गाँव के इन रास्तों पर आदमी चलते हैं या शैतान। घर के पीछे छोटे-छोटे बच्चे पाखाना करते हैं। उन्हें बड़े लोग ही रास्ता दिखाते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि शर्म की ही बात मुख्य है, गन्दगी की नहीं। गन्दगी की सीमा यहीं तक नहीं, वह वर्णन से परे है। मच्छड़ और कीड़े भनभनाते रहते हैं। बीच रास्ते में ही सड़ा पानी जमा है। गाँव की हवा बेहद खराब हो रही है, इस पर किसी का ध्यान नहीं जाता। गाँव के चतुर्दिक इससे है कि सटे हुए गन्दगी के केन्द्र मिलेंगे। गाँव में रहने वालों को, कहना पड़ता शुद्ध हवा के लिए बाहर दूर खेतों में जाना पड़ता है।

यही दशा जल की है। कुओं की दुरवस्था अवर्णनीय है। गन्दगी से भरे बर्तन उसमें बिना हिचकिचाहट के डुबाए जाते हैं। उनके पास पानी जमा होकर सड़ा करता है। उसके पास ही रौरव नरक को मात करने वाली बड़ी-बड़ी गड़हियाँ होती हैं। दो-चार वर्ष पर भी उसकी सफाई नहीं हो पाती। ऐसी दशा में उसका पानी हानिकर क्यों न हो? शहर वाले बनाया हुआ नल का पानी पीते हैं। गाँव वाले सड़ी-गली पत्तियों वाले पुरातन कुएँ का पानी पीते हैं। कहीं-कही तो कुएँ के अभाव में नदियों का पानी पीते हैं।

दूध-घी का प्रति दिन अभाव होता चला जा रहा है। जो मिलता है उसकी शुद्धता में सन्देह रहता है। मिलावट की हवा शहरों से गाँवों में भी आ गई है। शहरों में महँगा ही सही, खोजने पर शुद्ध सामान भी मिल जाता है। गाँवों में यह बात नहीं। बहुत से गाँव हैं जहाँ एक आने की मिर्च खोजने पर नहीं मिलेगी। मिर्च यहाँ पैदा होने वाली वस्तु नहीं है। यदि यहाँ उत्पन्न होने वाली सामग्रियाँ भी खोजने लगें तो उपलब्ध नहीं होतीं। रुपया लेकर गाँवों में दूध-घी के लिए लोग चक्कर काटते-फिरते दिखाई पड़ते हैं। साग-सब्जी की यही दशा है।

शहरों में सबेरा होते ही झाड़ू लग जाता है। सार्वजनिक स्थान स्वच्छ कर दिये जाते हैं। सप्ताह में कई बार मोरियाँ ठीक कर दी जाती हैं। गन्दगी शहर से बाहर जाकर खाद बन जाती है। मल सोना हो जाता है। दवा-दारू की बात क्या ? गाँवों में साधारण दवा के अभाव में प्राणी तड़प-तड़प कर मर जाते हैं। रुपया रहते हुए भी औषधि का कोई प्रबन्ध नहीं हो पाता। भोजन, हवा और पानी की शुद्धता के कारण पहले गाँव वाले बीमार भी कम पड़ते थे। आज तो ६० प्रतिशत ग्रामीण रोगी हैं। कितने ही भीषण रोगों से आक्रान्त रहते हैं। आवागमन के साधन नहीं हैं। जान भी निकल जाय तो कहीं शीघ्र जाने की कोई व्यवस्था नहीं। इस वैज्ञानिक युग में जब तेन सिंह एवरेस्ट पर चढ़कर तिरंगा फहराता है, हमारे ग्रामीण किसान हिन्द महासागर की तलहटी में औंधे मुँह पड़े हैं। इनके दुर्भाग्य पर आसमान रोता है। धरती तड़पती है। इनके परिश्रम की सम्पत्ति से नगरों की जगमगाहट आबाद है। सड़कों पर सर-सर मोटरें दौड़ रही हैं। इधर पगडन्डियों पर धूल उड़ रही हैं। रास्तों पर की बात ही क्या ? घरों के भीतर भी दीपक का प्रबन्ध नहीं। शरेशाम स्मशान जैसा अँधेरा, भूत जैसे गलियों में मानव और प्रेत-वार्ता जैसी अँधेरे घरों में बातचीत चलती है।

गाँव आज अरक्षित हैं। रक्षा की दृष्टि से भाग्यहीन हैं। दिन दहाड़े डाके पड़ जाते हैं। रक्षा की बात क्या ! थाना पुलिस एक तो दूर है दूसरे आए भी तो भोले भाले ग्रामीण परेशान ही अधिक होते हैं। गरीब रक्षा करने में कई कारणों से पुलिस असमर्थ होता है। आज वह पूर्णतया भगवान के भरोसे जी रहा है। खेलकूद के सार्व-जनिक स्थान खेत बन रहे हैं। पार्क और टाउनहाल जैसी चीजें यहाँ कहाँ ! सभा-सोसाइटी स्वप्न है। सर्वत्र स्वार्थ का सन्नाटा। अब तो लोग एक दूसरे की सहायता करने में भी जी चुराते हैं। उच्चकोटि की शिक्षा, शिक्षक, शिक्षण का वातावरण, साधन और समाज यहाँ कत्तई नहीं। यहाँ पुरातन सभ्यता के खँडहर हैं। जिसमें चमगादड़ और छिपकली की तरह चिपके मानव हैं। शहर वालों की धूर्तता, पाखण्डचार और मिथ्यावादिता यहाँ आ गई। गाँव वालों के हाथ कट गये। आँख की रोशनी जाती रही। रह गई जड़ता।

एक पुरानी कहावत है कि एक शहरी चूहा देहाती चूहे के पास भूला-भटका पहुँच गया। देहाती चूहे ने उसकी बड़ी आव-भगत की। उसे कई दिन रखा। दूध-मलाई खिलाया। कमी ही क्या थी ! कहीं गेहूँ की राशि पड़ी है। कहीं चावल का भाण्डार है। कहीं पका-पकाया भोजन है। कहीं मीठे पदार्थ हैं। घर क्या है स्वर्ग है। खा-पीकर शहरी चूहा मोटा—मुस्टँडा हो गया। जब वह जाने लगा तो देहाती चूहे को आमंत्रित कर गया। मित्र, मेरे यहाँ आओ तो तुम्हें रंग-विरंगे वर्तन, चीजें दिखाऊँ। तरह-तरह के स्वाद वाली वस्तुएँ खिलाऊँ। ईंट-पत्थर कोड़कर हम लोग रहते हैं। संयोग वश देहाती चूहा एक दिन अपने शहरी मित्र के पास पहुँच गया। दिन भर तो घात नहीं लगा, और दुबका बैठा रहा। रात में अपने मित्र के साथ मटर-गश्ती करने निकला। रसोई घर में पहुँचा। कहीं रकाबी में दालमोट का एक टुकड़ा पड़ा है। कहीं प्लेट में मिठाई के एकाध कण छूट गये

हैं। शहरी चूहा तारीफ के पुल बाँध देता है। आगे तरह-तरह के विचित्र वर्तन दिखाई पड़े। मारे भूख के बुरा हाल था। झपट कर एक वर्तन में मुँह मारा तो मारे तिताई के सिर भनभना उठा। मिर्चा-मसाले का चूर्ण ही था शायद! दूसरे में मुँह लगाया तो बे-गन्ध-स्वाद की न जाने कौन-सी चीज। अन्त में पूछा कि अरे मित्र इस घर में भोजन योग्य कुछ मिलेगा या नहीं!

आज यदि शहरी चूहा देहात में आवे तो उसे उपवास ही करना पड़े। आज इतनी सम्पन्नता नहीं कि चूहे-बिल्लियों के लिए पका-पकाया भोजन खुला पड़ा रहे। आज तो खाने भर भी नहीं है। हो सकता है कि सिर्फ 'सलाम' ही हाथ लगे। वहाँ तो दालमोट, मिर्चा-मसाला, सेव, चटनी और पकौड़ी के कुछ कण मिल भी गये।

यह है जमाने का फेर। कभी शहर का सलाम प्रसिद्ध था। अब उल्टा सो गया। शहर में पैसा रहे तो मँहगा-सस्ता भोजन मिल जायगा। परिचित और अपरिचित का प्रश्न ही नहीं। आज गाँवों की दशा कई कारणों से ऐसा बिगड़ी कि अपरिचित की गुजर कठिन हो गई। ऐसे भी लोग हैं जो दरवाजे पर बैठने नहीं देंगे। खरीद कर खाना तो कल्पना में भी नहीं ला सकते।

—*—

"अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम"

आलसियों का मंत्र है :—

"अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए, सबके दाम राम ॥"

इस मंत्र को गाँव वाले खूब जपते हैं। जीवन में बहुत अधिक श्रम करने और हाथ पैर पटकने से कुछ नहीं होता। जो होता है सब भगवान करता है। वही कभी धूप करता है, कभी छाया। मुँह उसी ने चीर दिया, पेट उसी ने बनाया, तब आहार देने वाला भी वही है देखो; चिड़ियाँ कौन-सा रोजकार करती हैं? अजगर भी कोई नौकरी नहीं करता? मानव ही क्यों अपने सृजनकर्ता पर अविश्वास करे, अपनी शक्ति का गर्व करे और दाताराम को भुला दे? "अजगर के भुख राम देवइया" वैसे ही "सन्तन के धन गिरधारी।"

ये सब बातें हैं जो आमतौर से गाँवों में कही जाती हैं। दिन भर खेती गृहस्थी का काम कर, शाम को आसनी लगाकर "नाम" लेने वाले गृहस्थ जब गद्‌गद होकर उक्त दोहे का उच्चारण करते हैं तो कितने ही आलसियों की तबियत फुरफुराने लगती है। दुनिया में देखते हैं कि कोई दिन-रात जाँगर घिसकर भी दो मुट्ठी अन्न और गज भर वस्त्र के लिए सिहकता रह जाता है और कोई बैठे-बैठे भगवान की दया से पीताम्बर पहनता है और छप्पन प्रकार का भोग लगाता है। बनाना होता

होता है तो भगवान एक दिन में किसी को बना देता है, बिगाड़ना होता है तो एक पल में बिगाड़ देता है।

सामाजिक विषमता को ईश्वरीय करिश्मे का उदाहरण बताया जाता है। बुराई के पेट से बुराई ही तो पैदा होगी? काम से जी चुराने वालों को एक तरफ समाज से प्रोत्साहन मिल जाता है दूसरी तरफ संतों की वाणियों का आश्रय मिल जाता है। सहज ही आदमी अपने को अजगर तथा पंछियों की कोटि में सम्मिलित कर लेता है। सबके दाता राम हैं तो अवश्य पर जो स्वयं हाथ-पैर हिलाने का कष्ट नहीं करता उसे राम क्यों देने लगे? कौन कह सकता है कि पक्षी काम नहीं करते? नौकरी जैसी चीज अजगर चाहे भले न करे, परन्तु अपने जीवन रक्षा के लिए सतत् सतर्क तो वह रहता ही है! संसार के जीवों में मनुष्य ही एक ऐसा जीव है जो निठल्लेपन की स्थिति में भी भोजन प्राप्ति की आशा रखता है। वह अपनी अकर्मण्यता को भगवान के मत्थे मढ़ देता है। एक ऐसे ही भक्त ने एक बार कहा कि भगवान की लम्बी भुजा है, वह सबकी खबर लेता है। इस पर पास ही बैठे एक गृहस्थ ने कहा कि भगवान की भुजा लम्बी है तो अवश्य परन्तु वह इसलिए नहीं कि आकर आपकी रोटी पका दे। आपका पैर दबा दे। आपकी भुजा कौन छोटी है? यह तो प्रत्यक्ष है। आप इस पर दही जमाए बैठे हैं। ऐसी दशा में भगवान की अलक्षित भुजा आपको क्या सहारा देगी?

जीवनोत्थान में आलस सबसे बड़ा बाधक है। गाँवों की तो इसने रीढ़ ही तोड़ डाली। अदृश्य शक्ति का भरोसा घुन की तरह लगा है। 'हम कुछ न करें, अपने से जो होना चाहिए हो जाय।' इस भावना की जोंक ने सारे शरीर का रक्त चूस लिया। अपने से क्या हो जायगा? विनाश, मरण और पतन। इसी ओर ग्रामीण चले जा रहे हैं। छोटी-छोटी बातों में भी आलस का प्रभाव देखते हैं। थोड़ा-सा श्रम रहने

योग्य मकान बना देता। थोड़ी-सी सावधानी बीमार नहीं होने देती। थोड़ी-सी कर्मठता खेत से सोना बरसाती है। इसी प्रकार स्वच्छता, सहयोग और जीव रक्षा आदि में भी थोड़ा-सा शरीर श्रम आनन्दप्रद वातावरण का निर्माता बन जाता है।

भाग्यवाद के फलस्वरूप परिश्रम होता है भी तो त्रुटिपूर्ण। दिन भर भीख माँगने वाले भी परिश्रम करते हैं। सेंध लगाने वाले और रात्रि के घने अन्धकार में अपना रोजगार चलाने वाले भी कम परिश्रम नहीं करते। इधर-उधर बातें कर झगड़ा लगाने-बझाने वाले भी एड़ी का पसीना चोटी करते हैं। बैल जैसी बेडौल वस्तु को रुपए पैसे की उड़ा ले जाने वालों की मिहनत की तुलना किससे करें ! ये श्रम समाज के लिए अभिशाप होते हैं। आज गाँवों में ऐसे श्रमिकों की कमी नहीं है।

घूल आलस का प्रतीक है। कभी-कभी ठीक घर के सामने ही लगा दिया जाता है। घूल ले जाने में परिश्रम है। तमाम कूड़ा, ईंधन की राख उठाकर सामने फेंक दी गई। नित्य बढ़ते-बढ़ते वहाँ कूड़े का विशाल टीला या स्तूप हो गया। कहते हैं कि संध्या समय सँझवत जलते ही जब घर में लक्ष्मी का प्रवेश होता है तो सर्वप्रथम दृष्टि उस पर पड़ने के कारण वे मुँह फेर कर लौट जाती हैं। ऐसा किसान जिसके गृह-प्रवेश-द्वार पर घूल लगा होता है जल्दी दरिद्र हो जाता है। ये घूर गाँव के स्वच्छता वाले आदर्श पर बड़ी बेशर्मी से धूल उड़ाते हैं। गाँव की गली से जाते समय हवा का यदि तेज झोंका का आया तो सूरत देखने ही लायक हो जाती है। तमाम धूल छा जाती है। यह धूल घर के भोजनालय तक में जाती है। रसोई घर की पवित्रता नष्ट हो जाती है। यह घूर न केवल कूड़े का होता है बल्कि इसमें कुत्ते-बिल्लियों से लेकर आदमी तथा आदमी के बच्चे का प्रच्छन्न शौचालय भी होता है। कुत्तों की आदत होती है कि जहाँ गन्दा देखते हैं वहीं पाखाना

करते हैं और एक दिन जहाँ ऊक्त क्रिया किए वहाँ नित्य निबटते हैं। बिल्लियाँ तो राख और घूर खोजती फिरती हैं। इतनी सभ्यता बिल्लियों में अवश्य होती है जिसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते कि गांधी जी के कार्यक्रम के अनुसार वे अपना पाखाना ढक देती हैं। घूर पर औरतें बच्चों का पाखाना खुला फेंक देती हैं जो गन्दगी उत्पन्न करता है। इधर ग्राम-सुधार और उसके आन्दलों के कारण अगणित घूर उठवाए गए। सफाई की गई, ग्रामीण पर जुरमाने भी लगे। इतने पर भी लगे। घूर ज्यों के त्यों बने हैं। वास्तविक बात यह है कि जब तक गाँव वालों के मन के भीतर का घूर नहीं उठ जाता है, बाहर की सफाई व्यर्थ है। यह वैसा ही है जैसे खुजली हो जाने पर साबुन से धोना।

किसान नहीं समझ पाते कि यह घूर नहीं सुवर्ण राशि है, जो उनके आलस्य और अज्ञान पर व्यंग किया करती है। खेत भूखे हैं, ए खाद माँग रहे हैं। किसान उनकी पुकार नहीं सुनता। खाद उसके द्वार की शोभा बढ़ा रही है। गन्दगी का परिवार बढ़ा रही है। किसान यह जानता है कि खाद से उसके खेत लहलहा उठेंगे। इसके अभाव में पैदावार का स्तर गिरता जाता है। वह यह भी जानता है कि यह गन्दगी है इसे दरवाजे पर नहीं रहने देना चाहिए। इसकी यदि कोई जगह है, तो खेत ही हैं। पर आचरण ठीक इसके विपरीत करता है। उसमें एक जड़ता और सर्वग्रासी मूर्छा आ गई है। धन्य हैं उस किसान-परिवार की स्त्रियाँ जो मुँह-अँधेरे में सिर पर घर के कूड़े की टोकरी लिए खेतों की ओर जाती दिखाई पड़ती हैं।

धूल की राख उपले की होती है। किसान लकड़ी नहीं जलाते। उसके घर गोबर से उपले बनाए जाते हैं। संसार भर के खाद विशेषज्ञ बताते हैं कि गोबर और गो मूत्र सर्वोत्तम खाद है। हमारे किसान गोबर को जला डालते हैं तथा गो मूत्र को रास्ते पर तथा धूर पर डाल देते

है। धरती की खूराक आग में स्वाहा हो जाती है या हवा में उड़ जाती है। गोबर से उपले बनाना इतना आसान समझा जाता है कि कार्य की सुगमता और छोटाई के लिए "गोबर पाथना" की उपमा एवम् उपाधि दी जाती है। यह गोबर पाथने का काम औरतें करती हैं। कहीं-कहीं पुरुष भी करते हैं। गृहस्थ परिवार में रसोई की भाँति ही यह महत्व पूर्ण काम समझा जाता है। शायद ही कोई किसान परिवार की स्त्री हो, जिसे गोबर पाथना न आता हो। सबेरा होते ही पुरुष गोशाला से गोबर उठा कर एक नियत स्थान पर ढेर कर देंगे। औरतें उसका संस्कार कर पंक्तिबद्ध गोबर के वीर जैसे फौजी शासन में परेड करते हुए सैनिक खड़े कर देंगी। जितना आसान औरतों के लिए गोबर पाथना समझा जाता है उतना ही सरल पुरुषों के लिए गोबर फेंकना कहा जाता है। जो ग्रामीण एक दम निकम्मा हो जाता है उसके लिए कहा जाता है कि इन्हें गोबर फेंकने का भी ढंग नहीं। जब लड़के पढ़ने-लिखने में आगा-पीछा करते हैं तो घरवाले धमकाते हैं कि पढ़ोगे लिखोगे नहीं तो गोबर फेंकोगे। एक तरफ गोबर का यह अनादर और दूसरी तरफ गोबर के गनेस न बनें तो पूजा ही प्रारम्भ न हो। यह 'गोबर-गनेस' भी शुद्ध मूर्खता का द्योतक शब्द माना जाता है। गोबर से लीपा-पोता स्थान पवित्र माना जाता है परन्तु यदि बुद्धि में या दिमाग में गोबर का अस्तित्व सिद्ध हो जाय तो उसे पागलखाने की हवा खिलाने की तजबीज की जाती है। यह सब गोबर की महत्ता है। गोबर के महत्व को ग्रामीण क्या जानें ? सोने का भस्म सोने से उपयोगी होता है। गोबर के भस्म के बारे में ऐसा तो नहीं कह सकते परन्तु उस राख को उठा कर खेत में डाल दें तो पैदावार में अवश्य ही चार चाँद लग जायेंगे।

सरकारी प्रयत्न से ग्रामीण गोबर और खाद की महत्ता समझने लगे हैं परन्तु वैसे ही जैसे शरीर के संक्रामक रोगों के लिए टीके की।

शिक्षा की कमी उन्हें पूरा खोल नहीं पाती। अपने को वे इन सब सुधारों और प्रगतियों से दूर समझते हैं। उनके सामने सिर्फ बाप दादों का आदर्श है। वे जो कर गए हैं, ये वही करेंगे। रत्ती भर भी आगे नहीं बढ़ेंगे। नए युग का शिक्षित किसान और भी आलसी और निकम्मा सिद्ध हो रहा है। उसके शरीर में इतना दम नहीं रह गया कि हाथ में कुदाल-फावड़ा लेकर खेत से सरकस करे और न इतनी बुद्धि विकसित हो गई कि नए जमाने की नई युक्तियों का प्रयोग कर भूमि की रक्षा करे। इसे बातें बनाना बहुत आता है और इस प्रणाली द्वारा वह अपनी अयोग्यता पर परदा डालने का प्रयत्न करता है।

एक ओर यह आशाओं पर तुषारपात करने वाला आलस है और दूसरी ओर दैवी कोप है। किसान आकाशवृत्ति पर जीता है। पानी न पड़ा तो सर्वनाश और पानी अधिक पड़ा तब भी सत्यानाश। मन-चाही मुराद पूरी नहीं होती। किसी वर्ष पानी अनुकूल मिल गया और फसल उभड़ कर आ गई। पर यह क्या ! आसमान से सिर्फ पानी ही तो बरसता नहीं ! पत्थर, पाला, राख और कीड़े भी तो बरसते हैं जो किसान के अरमान चाट डालते हैं। हवा जीवदानी है। परन्तु कभी-कभी किसान की खेती के लिए महा विनाशक हो जाती है। बड़े बूढ़े बताते हैं और साधारण अनुभव में भी यह बात आती है कि निरन्तर खेती का ह्रास होता चला आ रहा है। नया युग कहता है, पुराने तरीके से खेती करने का, खाद आदि के वैज्ञानिक तरीकों को न अपनाने का, यन्त्रों का पूर्ण रूप से प्रचार न होने का यह परिणाम है है कि खेती साथ नहीं दे रही है। कुछ पुराने लोगों की राय है कि कलियुग आ गया है। पाप के बढ़ते हुए बोझ से धरती दुखित होकर पूरा फल नहीं देती। यदि देती भी है तो ईति-भीति के चक्र में सब चौपट हो जाता है। सूखा, अकाल, भुखमरी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सब उसी का परिणाम है। सच तो यह है कि शताब्दियों से खेती पर

ध्यान न देने से इस कला का ह्रास हो गया है। इधर के विदेशी ज्ञान को देश अपनाने की स्थिति में है नहीं। किसानों की दुनियाँ में यह ज्ञान पहुँच नहीं पाता। बड़ी-बड़ी बातें होती हैं। लम्बे-चौड़े तड़क-भड़क वाले विज्ञापन प्रकाशित होते हैं, खेती के तरीकों तथा उसके सुधार पर विशद प्रकाश डाला जाता है पर होता है सब अंग्रेजी भाषा में। जैसे सरकार यह आशा करती है कि भारत का प्रत्येक किसान अंग्रेजी जानता है और ये समाचार-पत्र घर-घर पहुँच जाते हैं। खेती इस प्रकार पनपती नहीं। उसकी आन्तरिक दुर्बलता उसका विकास नहीं होने देती। दैवो दुर्बल घातकः। दुर्बल व्यक्ति पर जैसे हवा-बतास का असर अधिक होता है उसी प्रकार हमारी दुर्बल खेती को अगणित प्रकार की इति एवम् भीतियाँ चौपट कर डालती हैं। फसलों में जान नहीं, धरती में जैसे प्रान नहीं। पत्थर, पाला, कीड़े, मकोड़े, चूहे-बन्दर, वृष्टि, हवा, राखी और तुषार पहले जमाने में भी थे। कुछ आज ही इनका प्रकोप नहीं है। किन्तु जैसा कि कह चुके हैं धरती माताकी आन्तारिक पुष्टता के कारण इनका प्रभाव उनके पौदे पुत्रों पर नहीं पड़ता था।

खेत वही हैं परन्तु जहाँ उनकी पैदावार से घर भरा रहता था, वहाँ कुछ बोरे बन्द मुँह इधर-उधर पड़े रहते हैं। तिस पर भी अनेकों मुँह उसे उदरसात् करने के लिए सदा खुले रहते हैं। कुछ उचित मुँह होते हैं तो कुछ अनुचित भी। कुछ अधिकारी तो कुछ अनधिकारी भी। जिन लोगों ने श्रम पूर्वक उसे उपार्जित किया है उनका तो उस पर हक है पर वे लोग जिन्होंने उसे पैदा करने के लिए तन से श्रम नहीं तो मन से इच्छा भी नहीं की, वे भी उसे नाहक पाने के लिए लालायित रहते हैं। सीधे-सादे किसानों की करुणा उभाड़ कर ये अपना उल्लू-सीधा करते हैं। पुरुषों के पास दाल नहीं गलती तो स्त्रियों के पास जाते हैं। नाना प्रकार का स्वांग बनाते हैं। तरह-तरह की मक्कारी का माया-जाल

फैलाते हैं। झाड़-फूँक, टोना, टोटका, खाक-भभूत, से लेकर ठेठ धमकी और श्राप तक का ये आश्रय लेते हैं। सीधी भाषा में ये भिखमंगे हैं परन्तु ग्रामीण इन्हें पंडित जी, पंडा जी, बाबा जी, साँई जी, महाराज जी, जोगी जी और नागा जी आदि-आदि नामों से पुकारते हैं।

ये भिखमंगे अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम के जीते-जागते उदाहरण हैं। कहते हैं कि थोड़ी-सी लाज-शर्म को घोंटकर पी जाओ बस पौ बारह है। गाँवों में उनकी संख्या गिनती में नहीं आ सकती। हिसाब लगाया जाय तो दिन के प्रति घन्टे में प्रत्येक गाँव के प्रत्येक दरवाजे पर एक भिखमंगा खड़ा मिलेगा। इनके अपने-अपने क्षेत्र होते हैं। इसे वे अपनी भाषा में जागीर कहते हैं। ये बहुत से पुश्तैनी होते हैं। यही एक ऐसा पेशा है जिसमें एक छोटा बच्चा भी उतना ही कमाता है जितना नौजवान। पैदा होते ही इन्हें इसी की शिक्षा दी जाती है। आठ वर्ष के एक बालक को गेरुआ वस्त्र पहना दिया। गुदड़ी दे दी। एक ताँत वाली छोटी-सी सारंगी दे दी। साफा बाँध कर तिलक लगा दिया। राजा भरथरी के गीत की कतिपय पंक्तियाँ रटा दीं। अब ये पूर्ण योगी बाबा हैं। औरतें देखती हैं तो फिर देखती ही रह जाती हैं। 'अहा! हा! वारी उमर में ही योग ले लिया।' सुरीली आवाज में जोगी जी ने भरथरी या गोपीचन्द का गीत छेड़ दिया। अब क्या पूछना। झोली भर गई। शाम को किसी बरगद के नीचे, बगीचे में या देवालय के सामने एकान्त खोजकर चारों दिशाओं से जोगी लोग एकत्र हो गये और अपनी-अपनी कमाई का ब्यौरा प्रस्तुत करने लगे। पाँच से लेकर दस रुपये तक ये बनाते हैं। देने वालों को भूक और न देने वालों को "चमरचिट्ठ" समझते हैं! कभी-कभी कोई जोगी मूल्यवान चिड़िया फँसा लेता है। वह एकत्र होने पर उसका बड़ा साँगोपाँग वर्णन करता है। ये भीख नहीं माँगते एक 'व्यवसाय' करते हैं। झुण्ड के झुण्ड

चलते हैं। प्रत्येक को ज्ञात रहता है कि अमुक किस गाँव में गया है। ठहरने का स्थान भी निश्चित होता है। कभी-कभी तो इनमें-से एकाध गाँवों में बड़ा रंग जमाते हैं। पहले फेरी देते हैं। बाद में वसूल करते हैं। लड़के कुतूहल वश इन्हें घेर लेते हैं। जोगी लोगों की तब बन आती है और बच्चों की प्रसन्नता के माध्यम से उनकी आमदनी बढ़ जाती है। कहीं-कहीं बच्चों के बहकाने की भी शिकायतें की जाती हैं।

एक 'साईं बाबा' हैं। ये मुसलमान जाति में से हैं। लम्बा-सा कुर्ता है। एक हाथ में चम्मल है, दूसरे में मोरछल है, दाढ़ी, माला सब दुरुस्त है। ये जोड़े चलते हैं। कल्याण कामना से गाँव की फेरी लगाते हैं। इनके गीत की टेक होती है:—

"बाबा चम्मला भर दे,
तेरा जीयेगा लाल !"

अपने गीतों में ये संसार की असारता बताते हैं और यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि दौलत, माल और खजाना यह सब मरने पर साथ नहीं जाता। जाता है वही जो तुम दान करते हो। इसलिए जी खोलकर दान करो और फिर चम्मल भर दो वाली टेक आ जाती है। एक साईं बाबा 'बतला दो मेरा पिउ कहाँ ?' की दर्दनाक आवाज सदा लिए फिरते हैं। फेरी लगाने के साथ ही ये लोग तावीजबाजी भी करते हैं मुरछल घुमाकर बड़े-बड़े रोग-सोग को ये आनन-फानन में दूर कर देने की घोषणा करते हैं। इनका भी रोजगार-खूब चलता है।

बालक, हट्टे-कट्ठे, नौजवान और तन्दुरुस्त लोगों को जब द्वार-द्वार हाथ फैलाते देखते हैं तो भारत की वर्तमान दुरवस्था पर रोना आ जाता है। इनसे जब कुछ पूछा जाता है तो ठीक उत्तर भी नहीं देते ! आदमी के बिना कितने किसानों की खेती ठीक नहीं उतरती। एक ये आदमी हैं तो दर-दर घूमने को ही पर्याप्त सुखकर मान बैठे हैं। इन

भिखमंगों को यदि भीख न दी जाय तब भी देखा यह जाता है कि ये नाराज नहीं होते। इन्हें आदत पड़ गई है। यदि यह कहा जाय कि इतना लम्बा-चौड़ा शरीर लेकर क्यों गली-गली घूम रहे हो? कहीं काम क्यों नहीं करते? क्यों नहीं निश्चित, शिष्ट जनोनुमोदित और उचित जीवन व्यतीत करते हो? इस पर कई बहुत बिगड़ेंगे। कुछ निरीह की तरह दाँत निपोर देंगे।

गरमी का दिन है। आसमान से आग बरस रही है। पृथ्वी पर पैर नहीं दिया जाता है। दोपहर के समय लोग घर-द्वार बन्द कर आड़ पकड़ कर सोये हैं। कहीं पशु-पक्षी भी इधर-उधर आते-जाते, उड़ते, फुदकते नहीं दृष्टिगोचर होते हैं। धूप की चमक में किसानों के घर निश्चल खड़े दिखलाई पड़ते हैं। ऐसी भीषण धूप वाली बीहड़ दोपहरियों में एक बाबा जी रिक्त लाल पात्र हाथ में धारण किये, नंगे पैर, पीठ पर अन्न की चार-पाँच छोटी-छोटी गठरियाँ लादे, चुनी हुई धोती का एक सिरा बाँधे सिर पर फहराए, सोटा लिए दरवाजे-दरवाजे घूम रहे हैं। अच्छे डील-डौल वाले तीस-पैंतीस वर्ष के हैं। प्रत्येक द्वार पर खड़े होते हैं। सधी हुई वाक्यावली मुख-कोटर से कड़कड़ा कर निकल पड़ता है। "शिवाजी कल्याण करें। बड़े भाग्य से मानुष जन्म मिला। कुछ दान-पुण्य करो लक्ष्मी" यदि घर के भीतर से आवाज नहीं आती तो आगे बढ़ जाते हैं। कितने लोग आराम करने की शिक्षा देते हैं। अपनी नींद में खलल डालने के लिए झिड़कते हैं। कितने दोपहरी में उनके पर्यटन पर आश्चर्य प्रगट करते हैं। अधिकाँश द्वारा निःशब्द और अवरुद्ध मिलते हैं। इस प्रकार प्रत्येक द्वार पर शब्द लगाते, प्रतीक्षा करते और आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। इन्हें देखकर एक विहारी का दोहा याद आ जाता है:—

"घर घर डोलत दीन ह्वै, जन जन जाँचत जाइ,
दिए लोभ चसमा चखनु, लघु पुनि बड़ो लखाई।"

सनने में यह बात विचित्र-सी लगेगी कि कितने ऐसे गाँव हैं जिनका पुश्तैनी पेशा भीख माँगना है। कितनी ऐसी सभ्य सी लगने वाली जातियाँ जो केवल भिक्षाटन पर ही जीवित हैं। महँगी में वे चैन की वंशी बजाते हैं। उनकी बड़ाई-छोटाई का माप-दण्ड भीख माँगने वाले लोगों की कमीवेशी पर निर्भर है। साधारण शब्दावली में यह कि अमुक के घर इतने लोटे चलते हैं।" लोटे चलने का तात्पर्य भीख माँगना। पूछने पर ये जो भी वर्ण हों, बतायेंगे ब्राह्मण ही। एक, दो, दस की बात नहीं अपने यहाँ या करोड़ों की समस्या है।

"अजगर करे न चाकरी" वाला महामंत्र जपने वाले लोगों में से ऐसे भी बहुत हैं जो यह कहते नहीं थकते कि "भगवान देता है तो छप्पर फाड़ कर देता है।" अथवा "चार भुजा वाला छप्पर फाड़ कर ऐसे सज्जनों को कैसे देता है, इसका एक उदाहरण देखिए ;

गाँव का एक 'बच्चा' 'बबुआ' हुआ। 'बबुआ' बढ़कर बाबू हो गया। शरीर उभर आया। शक्ति फट पड़ी। अगल-बगल दस संगी झूमने लगे। अब क्या हो ? गाँव में रह कर खेती छोड़ और क्या हो ? पर यह तो बड़ा ही मनहूस पेशा है। साल भर नाक रगड़ने पर भी दरिद्रता साथ नहीं छोड़ती। रात-दिन परेशानी, नागहानी, आसमानी और सुलतानी आपदाएँ मुँह बाए खड़ी रहती हैं। यह कोई साहसिकता पूर्ण, उबलती, जवानी के जोश योग्य कोई सनसनीदार काम दिखलाई नहीं पड़ता।

सिर्फ एक ही कला है जिसमें हीन संस्कार वाले आलसी मन नौजवान रमते हैं! अपनी कथित साहसिकता का परिचय देते हैं। यह कला है बैल चुराने या खोलने की। इससे तीन लाभ होते हैं। प्रथम तो धाक जम जाती है। दूसरे व्यवसाय भी चल निकलता है। 'हरे लगे न फिटिकरी' रंग चोखा आता है।' तीसरे बादी मुखालिफ भी ठण्डे रहते हैं। दस चालू सरदारों को लगा दिया। माल इधर-उधर हो गया।

अब घर बैठे, रंग गाँठ रहे हैं। बिना बादल के पानी बरसा रहे हैं। "बनिया दे नहीं, पूरे तौल" वाली मसल चरितार्थ कर रहे हैं। सैकड़ों मील के क्षेत्र में इनका एक संगठन है। सतर्क दल है। चार पैर वाले, बड़े-बड़े सींग वाले, पगहा (रस्सी) तोड़कर भागने वाले तथा कूद-फाँद के साथ सींगों पर उठाकर दे मारने वाले इन बेडौल जानवरों को ये पानी की तरह पचा डालते हैं।

इन बैल खोलने वालों के कारनामे बड़े हैरत एवम् साहसिकता से भरे हुए होते हैं। जिन बैलों को हल के लिए ले जाते समय किसानों को कितनी सतर्कता बरतनी पड़ती है, कितना हाँकना और घेरना पड़ता है उन्हीं बैलों को ये तस्कर भगवान रातो-रात चालीस-चालीस मील तक एक साँस में लिए चले जाते हैं। किसी की पाकिट से पर्स मार लेना, घड़ी झटक लेना, सेंध लगाकर घर मूस लेना, सायकिल अथवा मोटर उड़ा लेना एवम् चलती ट्रेन से बक्स लेकर चम्पत हो जाना उतना कठिन नहीं है जितना एक सोए हुए किसान की गोशाला से बैल खोल ले जाना। यह कोई ऐसी वस्तु भी नहीं कि घर के भीतर छिपाकर रखी जाय। इसे टाँगकर ले जाया जा सकता नहीं। पर वाह रे मनुष्य! और मनुष्यों में भी ग्रामीण मनुष्य!! तेरी बुद्धि भी कमाल की है। और विचित्रताओं की भांति गाँव की यह चौर्यकला भी कम आश्चर्यजनक नहीं। कहते हैं कि चारों ओर से घेर कर आदमी सोए हैं और बीच से मवेशी गायब हो जाते हैं। मालूम होता है उनके पर जम जाते हैं और उड़ जाते हैं। न केवल एक-दो बल्कि कभी-कभी चार-चार, पाँच-पाँच की गिरोह खूँटा खाली कर देती है।

कदाचित ही ऐसा कोई गाँव हो जहाँ इस प्रकार की घटनाएँ प्रतिवर्ष न होती हों। न केवल बैर-विरोध के कारण बल्कि शुद्ध व्यावसायिक मनोवृत्ति से वृषभ-हरण की बातें आज देखने और सुनने में

आती हैं। एक हजार के माल पर पाँच सौ का मोल-तोल होता है। इस घूस को 'पनहा' कहते हैं। 'पनहा खोर' चोर इस प्रकार अपनी जीविका चलाते हैं। कहते हैं कि यह धन रसता नहीं है। जीवन भर चोरी-चमारी कर तहलका मचाने वाले बिना कफन के गंगा में फेंके जाते देखे गए हैं। ईमानदारी और मेहनत के जीवन में जो रस है वह और कहाँ ? जुआ, चोरी, अपहरण, दलाली और 'पनहा' से जो छप्पर फाड़ कर अचानक धन प्राप्त होता है वह ठहरता कहाँ है ? वह जैसे आता है, वैसे आता है, वैसे ही चला जाता है। किसान का मतलब है पवित्र परिश्रम की कमाई खाने वाला। जब किसान आलस वाला उक्त कथित परिश्रम प्रारम्भ कर देता है तो पथभ्रष्ट हो जाता है। पथभ्रष्ट हो जाने पर सुख-स्वप्न हो जाता है।

ग्रामीण समाज की जड़ खोदने वाले न केवल ये भिखमंगे एवम् चोर हैं बल्कि एक और जमात है जिसको हमारे देश में पुराने जमाने से बड़ा आदर प्राप्त है। किसान श्रद्धातिरेक में उनके सामने माथा टेक देता है। इन्हें साधू कहा जाता है। काम कुछ न करना पड़े और भोजन प्रथम श्रेणी का मिले। ऐसी अभिलाषा रखने वाले बहुत जल्दी साधू (साधू नहीं) हो जाते हैं। एक कहावत कही जाती है कि "नारि मुई घर सम्पति नासी, मूँड़ मुड़ाय भये संन्यासी" जिसकी स्त्री मर गई और घर में सम्पत्ति नहीं रही वह सिर सफाचट करा कर संन्यासी (साधु) कहलाने लगा। जब तक कामिनी एवम् कंचन का भोग सम्भव था, जब तक इन्द्रियों ने साथ दिया तब तक खूब मौज उड़ाये। जब उन्होंने साथ छोड़ दिया, साधू हो गये। साधु तो त्याग से होते हैं। कामिनी-कंचन एवम् इन्द्रिय सुख का स्वयं त्याग कर देते हैं। जब भोगों ने साथ छोड़ दिया तो साधूपना ग्रहण एक ढोंग जैसा लगता है। यह निराशा के शीशे का कालिख है न कि सफलता की ज्योति का प्रकाश है ? ऐसे ही साधू

हरिद्वार, आदि कुम्भ के मेले में या अन्यत्र गठरी-मोटरी हड़प कर भागते और पकड़े जाने पर पुलिस का हंटर खाते देख जाते हैं। किसान इस भेद को क्या जाने ? वे तो वेष की पूजा करते हैं। कभी-कभी गृहस्थों के घर ये साधू महीने दो महीने तर माल काटते हैं और चलते समय आशीर्वाद स्वरूप उनकी बहू-बेटियों को लेकर नौ दो ग्यारह हो जाते हैं। साधू सेवा के फल स्वरूप एक तरफ जीवन भर के लिए कलंक का टीका एवम् अपने साधु-समाज के प्रति तीव्र घृणा की भावना दे जाते हैं। ऐसे ही साधू रात भर दरवाजे पर टिके रहे तो सबेरे जिस कम्बल को उन्होंने सोकर पवित्र किया वह बाहर पड़े लोटे आदि के साथ गुम मिला। अब साधू जी को खोजते रहें ! ऐसे ही साधू किसानों की माताओं बहनों को ग्रह-ग्रहण, पुत्र-कलत्र एवम् पूजा पाठ के सम्मोहन चक्र में फँसाकर एवम् गहरी रकम ऐंठ कर गधे के सींग हो जाते हैं।

आश्चर्य तो यह है कि इनकी संख्या दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती पर है। किसानों की अन्धश्रद्धा का ऐसा दुरुपयोग कदाचित ही किसी ने ऐसा किया हो। यह सत्य है कि साधु-समाज हमारे देश की एक ऐतिहासिक विशेषता एवम् बड़ाई है। इस समाज ने हमारे देश की जनता का युग-युग से बड़ा उपकार किया है। जगत के, जीव के, ईश्वर के तत्वों का उद्घाटन इसी समाज ने किया। जीवन दर्शन का गहनतम अध्ययन एवम् आदर्श जीवन-प्रणाली की सुन्दरतम् व्यवस्था इसी वर्ग ने दी। यह समुदाय मूर्धन्य, पूजनीय एवम् संरक्षणीय है। जो काम किसान जीवन भर परिश्रम करके नहीं कर पाता, वह एक पूर्ण काम संन्यासी एक पल में कर देता है। जगत को अपनी प्रकाश-किरण देकर, लोक-कल्याण के लिए अपनी आत्मा-शक्ति को प्रसारित कर एवम् शिवत्व की प्रपिष्ठा के लिए तपस्या की रश्मियों को विकीर्ण कर साधु युग-युग से भारत में अलौकिक महिमा वाला रहा है। अपनी

गृहस्थी के माया-जाल में फँसे गृहस्थों के लिए त्याग का सन्देश देने वाली साक्षात् सच्चिदानन्द की मूर्ति स्वरूप ये साधु हैं। अपनी श्रद्धा रूपी अलौकिक सम्पदा को लुटाने के लिए और दो घड़ी इस संसार से ऊपर उठकर भगवत् चिन्तन में रमण करने के लिए इस साधु-समाज से बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं। अपना विज्ञान पढ़ाने के लिए विदेशी बड़े-बड़े भवन बनवाते हैं। और अरबों रुपया व्यय करके महान् प्रबन्ध कराते हैं। हमारे देश का आध्यात्म-विज्ञान एक लंगोटी मात्र पर संतुष्ट इन साधुओं की कृपा से घर-घर सुलभ है। पढ़ने वाले, सीखने वाले और जीवन में प्रयोग करने वाले नहीं मिलते हैं। ये सब बातें हैं और अनेकों बातें जो साधु समाज को प्रणम्य, श्रद्धेय एवम् पूजनीय बनाती हैं। उनके न केवल हम बल्कि हमारी मानव मात्र की पीढ़ियाँ कृतज्ञ हैं और रहेंगी।

बुरा किया मन्दिर और मठों में भेंड़ियाधसान करने वाले पोप-पाखण्डियों ने। आलसियों के लिए एक सीधा-सा रास्ता है 'साधू' हो जाना। रुपये पैसे की कमी नहीं रहती। स्वागत-सत्कार होता ही है। दुनिया पूजती है! अब चाहिए ही क्या? तनिक प्रगतिशील हुए तो चेला और चेलियाँ की भीड़ लगी रहती हैं। मठ और मन्दिर के मालिक बिगड़ गए। महन्थों में तो निन्यानबे प्रतिशत पथभ्रष्ट व्यक्ति हैं। मुफ्त की धन और धरती, ऊपर से मिलने वाला प्रगट तथा गुप्त दान। निर्धारित पूजा-पाठ। किसानों को सिवा पूजा भेंट चढ़ाने के ये और दूसरी शिक्षा भी नहीं देते। गाँजा, भाँग और विलासिता की लीला देखना हो तो मठों में आइये पूजा, पाठ और तप के नाम पर आरती होती है। कभी-कभी हरिकीर्तन होता है। यह कीर्तन भी अजीब है ढोल-मजीरा फूट जाय, सप्ताह भर गला बैठा रहे, कुछ को बुखार चढ़ जाय तथा चिल्लाने से कुछ के गला फट जाय तब हरिकीर्तन सफल समझा जाता है। साल में राम जन्म अथवा कृष्ण जन्म मनाया जाता है।

यह उत्सव शुद्ध रुपया और सीधा-दधि ऐंठने का एक हथकण्डा हो हो गया है। अधिकांश ग्रामीण नाच-रंग के प्रलोभन से भाग लेते हैं। रंडी-भांड से लेकर देशी नाच तक की सप्ताहों चहल-पहल रहती है। देखने में आता है कि ऐसे मौकों पर न केवल गृहस्थों की बल्कि साधू बाबा लोगों की भी सफेद दाढ़ियाँ हिलने लगती हैं। मन्दिर और मठ जिस पवित्र उद्देश्य को लेकर स्थापित किए गए आज उनकी सवा सोलह आने हत्या हो रही है। कभी ये भगवदराधन के केन्द्र थे। दिन भर के श्रम से थके-माँदे गृहस्थ शाम को वहां जाकर शान्ति पाते थे। उन्हें संसार-सागर पार करने की शिक्षाएँ मिला करती थीं। घर, समाज और लोक-कल्याण के लिए कामनाओं की कलियाँ इन्हीं दिव्य उपवनों में खिलती थीं। उनके सौरभ से जन-रञ्जन होता था। आज उन गुरुओं की जगह समाज-द्रोही, धर्म के गुण्डे और पूजा चाहने वाले लफंगे दिव्य-परिधान में आसन जमाए सुशोभित हैं। ये छप्पन प्रकार का भोग करते हैं। छप्पन छुरी और बहत्तर पेच जानते हैं। विश्व का कोई समुदाय इतना मोटा-मुष्टडा और शोषक नहीं है। ये शोषण चक्र हाथ में धारण किए पूँजीपतियों के दाहिने चलते हैं। इनका वरद-हस्त सदा उनके ऊपर रहता है।

ये 'साधू बाबा' लोग ग्रामीणों को शिक्षा देते हैं—

"होइहै सोइ जो राम रुचि राखा,
को करि तर्क बढ़ावहिं शाखा।"

सब कुछ उस 'राम' की किताब में प्रत्येक व्यक्ति के लिए लिख-लिखा कर निश्चित कर दिया गया रहता है। वही होता है। अपना उद्योग, तर्क, युक्ति, यत्न और हाथ पैर हिलाना बेकार है। 'करम गति टारे नाहीं टरी' अथवा 'करम की रेख लिलारे' इस प्रकार की बातें बचपन से ही सुनने को मिलती हैं। माताएँ बालकों को यही बताती

हैं। उनके दूध के साथ ही प्रगति विरोधी भावनाएँ पचने लगती हैं। फलतः अपनी हीनावस्था को विधि का विधान मानकर ग्रामीण उसे सुधारने के लिए प्रयत्नशील होने की बात नहीं सोचते। वे उसे अडोल एवम् अमिट मानते हैं। वे 'अम्हरेख' नामक लोकोक्ति का प्रयोग वे ऐसी बात के लिए करते हैं जो पूर्णतया निश्चित रूप से होने वाली होती है। वे इस बात की प्रतीक्षा करते हैं कि अघटित घटना चमत्कार द्वारा अचानक उनका दैत्य उसी प्रकार जाता रहेगा जिस प्रकार बरसात का गरजने-बरसने वाला, भूखों रखने वाला मौसम।

छोटी और बड़ी दोनों जातियों में यह भाग्यवाद समानरूप से चलता है। एक चमार का परिवार भूखों मर रहा है। साल में मिला मजदूरी का अन्न एक लड़के की शादी में व्यय हो गया। ऊपर से एक बाबू का १००) का ऋण था। सावन-भादों में अन्न के लाले पड़ गये। पूछा और कहा कि कहीं शहर में जाकर कुछ काम-धाम करते या यहीं किसी किसान का कोई काम थाम लेते तो यह अकाल कट जाता। मुझे क्या पता कि उसे तुलसी का एक दोहा याद था :—

"करम कमण्डल कर लिए, तुलसी जहँ-तहँ जाइ,
सागर सरिता कूप जल, बूँद न अधिक समाइ।"

मुझे लगा कि यही दोहा इसकी बरबादी का कारण है। यही उसे भूखों मार रही है। उसकी स्त्री, दो अबोध बच्चे और किशोर बालिका अन्न के बिना मुरझा गए थे। कैसे समझाया जाय कि 'करम' माने 'तक़दीर' नहीं। जो अर्थ और भाव उसके मस्तिष्क में जमा हुआ था उसे निकालना टेढ़ी खीर है। कैसे समझाया जाय कि तुम्हारे जैसे २५ वर्ष के हट्ठे-कट्ठे नौजवान का 'करम कमंडल' भरती के दफ्तर के सामने जाते ही भर जायगा, और कुछ नहीं तो यह रास्ता तो खुला है? कैसे समझाया जाया कि किसी बजार में बोझा ढोने पर अथवा स्टेशन

पर 'कुली-कुली' चिल्लाने मात्र से भी उसके मंडल में अधिक बूँदें आने लगेंगी।

नियतिवाद की प्रबलता के कारण ग्रामीणों में महत्वाकांक्षा नामक वस्तु नहीं मिलती। मिलती भी है तो अत्यन्त ठेठ, भोंडी और विनाशक किसी महत्वाकांक्षी किसान ने अपने बेटे की शादी में भोज-भात, रंडी-भाँड आदि में हजारों रुपया फूँक दिया। किसी ने दारोगा जी के उत्सव में अपने प्रतिद्वन्दी से ५०) बढ़ाकर न्यौते पर दे दिया। उन्होंने १०१) दिया तो इन्होंने १५१ रुपया। किसी ने ऐसा मसाला जुटाया कि गाँव के लोगों की गरदनें उसके सामने झुक गईं। किसी का गल्ला फुँकवाकर, किसी का बैल खोलवाकर, किसी की हवेली में सेंध लगाकर, किसी को अँधेरे में दस गुण्डे लगा पिटवाकर और किसी को बेकार के मामले में फँसा कचहरी की सैर कराकर या हवालात की हवा खिलवाकर महत्वाकांक्षाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। अपने व्यवसाय में उन्नति हो, सौ मन की जगह एक सौ एक मन पैदावार हो जाय। बच्चे चरित्रवान, स्वस्थ एवम् शिष्ट बनें इस प्रकार की महत्वाकांक्षाएँ रखने वाले गाँवों में कम मिलते हैं। घर के भीतर की व्यवस्था सुचारु हो जाय, भोजन-पान और रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो जाय और घर भरा पूरा तथा सुखप्रद हो जाय ये प्रवृत्तियाँ भी सिर ऊँचा कर नहीं उमड़तीं। गाँव के लोगों का जीवन निरापद हो जाय रोग और कष्ट से वे त्राण पायें, गरीबी धर्म का नाश न बन जाय, अनाथ और असहाय भाग्य की ठोकर से चूर न हो जायँ, पुराने लोगों का सम्मान रहे, गाँव के निवासी फलें फूलें और गांव में कोई झगड़ा न रहने पाये इस प्रकार की महत्वाकांक्षाएँ नहीं उदित होतीं। ये तो भाग्य की ज्वालाओं में झोंक दी जाती हैं। इन सब बातों के बारे में ग्रामीणों की राय है कि ये बनाने से नहीं बनतीं। ये तो जैसा होना होता है हो ही जाती है।

इससे स्पष्ट है कि गरीबी का एक कारण यह भाग्यवाद है। किसी

किसान के खेत में कम पैदा होता है। वह समझ लेता है कि भाग्य भूमि में यही नियत था। पैदावार की कमी के कारणों पर उसका ध्यान नहीं जाता। वह नहीं सोचता कि बीज में क्या दोष था? बुआई एवम् जुताई में कौन-सी कोर कसर रह गई थी? खाद की कमी पड़ी थी? अथवा सिंचाई में कितना प्रयत्न और अपेक्षित था? ये सब बातें गौण हो जाती हैं। मुख्य हो जाती है तकदीर। अपनी कमी का, अपने दोष एवम् अवगुण को नहीं देखते अतः उन्नति या सुधार की ओर कोई प्रगति नहीं होती। तदवीर पीछे छोड़कर तकदीर की छाया लोग पकड़ना चाहते हैं। पैदावार प्रतिवर्ष घटती जा रही है। जैसे भाग्य का सार्वजनिक स्तर गिरता जा रहा है। वह कभी उठता ही नहीं। खेत में चूहे लग गए हैं, चिड़ियाँ सफाया कर रही हैं, हरहे (लावारिश) जानवर हानि पहुँचा रहे हैं एवम् चोर-चाई खेत में नुकसान कर रहे हैं। पर किसान बेफिक्र हैं। उसकी किस्मत को कौन उखाड़ सकता है! उसकी तकदीर का मीटर कौन घटा बढ़ा सकता है!

किसान काम तो करते हैं परन्तु उनमें नई-नई प्रेरणाएँ, नई स्फूर्ति एवम् हार्दिक उल्लास का अभाव पाया जाता है। उन्हें अपने कर्म पर पूरा-पूरा विश्वास ही नहीं होता। अपनी वृत्ति या जीविका को वे आकाशी कहते हैं। है भी 'आकाशी'। लेकिन इस युग में जब कि मानव ने विद्युत-वारि को मुट्ठी में कर लिया है कोरी पुरानी रूढ़ियों के सपने देखते रहना हास्यास्पद है। सूखा पड़ा किसान तड़प उठे। गाँवों में मनहूसी की धूल उड़ने लगी! खेतों में हरियाली की जगह काले-काले मिट्टी के ढेले दिखाई पड़ने लगे। फसल उगी ही नहीं। जो थोड़ी मिहनत किए और सींचकर बो दिए उनके खेत कुछ हँसने लगे। कुछ गाँवों ने संगठित रूप से प्रयत्न किया और सरकारी सहायता प्राप्त कर खेतों को परती रह जाने से बचा लिया। अधिकांश यही सोचते

रहे कि जो किस्मत में होगा, कहाँ जायगा ? मालिक की जब यही मरजी है तो हम उनके खिलाफ क्या करें ? यदि खेत में देना होता पानी बरसाना उनके लिए क्या कठिन है ?

वस्तु नहीं किसान सन्तोष चाहते हैं यद्यपि यह उच्च भावना है। आदर्श जीवन सूत्र कही गई है। इस सन्तोष वृत्ति को शास्त्रों का अनुमोदन एवम् महापुरुषों की शुभ सम्मति प्राप्त है। तो भी इसकी एक सीमा होनी चाहिए। सन्तोष की वह भूमिका जिसमें मनुष्य सर्वथा कर्म रहित हो जाय भयावह है। 'कर्म रहित होना' और गीतोक्त 'अकर्म दशा' में बहुत अंतर है। एक में अभाव की प्रतिक्रिया है दूसरे में त्याग है। अंगूर प्राप्त नहीं हुए तो खट्टे हो गए। निष्क्रिय सन्तोष की झंकार हमारे लोक-गीतों में भी मिलती है :—

धै देत्यो राम हमारे मन धीरजा हो !
सबकी महलिया राम दियना जरत हो,
हर लेत्यौ हमरो अन्हार, हमारे मन— ।
सबकी महलिया रामा विजना बनत हो,
हर लेत्यौ भूखिया पियास, हमारे मन— ॥

विपत्ति की भारी एक भारतीय नारी भगवान से प्रार्थना करती है कि हमारे मन में धैर्य की प्रतिष्ठा कर दो। इससे मेरे सारे कष्ट दूर हो जायेंगे। सबके घर दीपक जल रहा है। मेरे घर में अँधेरा है। मुझे दीपक नहीं चाहिए। तू मेरा अन्धेरा हरण कर लो। मेरे पड़ोसी तरह-तरह के व्यंजन बनाकर रसा-स्वादन कर रहे हैं। इधर मेरे घर अनशन चल रहा है। यदि तू मेरी भूख-प्यास हरण कर लेते तो मुझे भोजन की आवश्यकता नहीं रह जाती।

इसी सिलसिले में एक बात का उल्लेख आवश्यक है। इससे किसानों की मनोवृत्ति का ठीक-ठीक परिचय मिल जायगा। बहुत से किसान, जो प्रधान मंत्री पद का वास्तविक अर्थ नहीं जानते, पंडित

जवाहरलाल नेहरू को 'प्रधान' या राजा मानते हैं। अपने अभाव, अपनी पीड़ा और अपने सुख-दुख को उन्हें सम्बोधित करके व्यक्त करते हैं। सन्ध्या समय झाँझ-मजीरे पर इस प्रकार की स्वर-लहरी ग्रामीण अंचल से उठती रहती है :—

"भारत का हर लीन्हा काल,
जवाहर लाल तेरी जय हो!"

अथवा कभी देश की घोर दुरवस्था, संकटजनक स्थिति एवम् गरीबी आदि की ओर संकेत कर मर्मभेदी स्वर छेड़ते हैं :—

"देश में लगी है अब तो आग
ओ जवाहर भैया"

कभी देश की विभिन्न समस्याओं की जटिलता और उन्हें हल करने के लिए जवाहरलाल के अथक् परिश्रम को लक्ष्य कर थोड़ी सहानुभूति के स्वर में गाते हैं :—

"कवनी सइतिया लीहल सासन भार,
भैया जवाहर हो!"

इससे किसानों को सन्तोष मिलता है। यह उनका राजनीतिक सन्तोष है। देश के कर्णधार के सामने विषमता निवेदन कर, उसकी स्तुति कर या उसकी कठिनाइयों के प्रति सहानुभूति व्यक्त कर वे निश्चिन्त हो गए। आदत है। सूखा पड़ा तो खेत में नहीं, शंकर भगवान की मूर्ति को सींचते हैं। महामारी फैली तो औषधि के लिए नहीं देवी की मनौती के लिए व्याकुल देखते हैं।

भारतीय किसान की यह सन्तोष प्रधान जीवन प्रणाली परम्परा से चली आती है। यह पुरानी व्यवस्था है। नई जोवन व्यस्था और इसमें मौलिक अन्तर है। तब किसान मानसिक स्वालम्बन की चट्टान पर खड़ा रहता था आज वह उसे खोकर शारीरिक और मानसिक

दोनों दृष्टियों से घनघोर परावलम्बन की खाई में पड़ा है। उसका जीवन प्रवाह अवरुद्ध होकर गँदला हो गया है। उसकी सरलता, सिधाई और हार्दिक निर्मलता तिरोहित हो गई है। एक उदाहरण जो साधारण है।

गाँवों में मूँज बहुत पैदा होती है। यह मूँज बहुत ही पवित्र मानी जाती है। इससे डालियाँ, बड़ी-बड़ी दौरियाँ, झाँपियाँ, बक्स, मोन्हीं और भाँति भाँति के खिलौने एवम् गृहस्थी के व्यवहार में आने वाली सामग्रियाँ निर्मित की जाती थीं। स्त्रियों का यह सरस व्यापार था। माताएँ अपनी कन्याओं को बड़े प्रेम से सिखाती थीं मूँज से गभउँजा खींचना, उसे चीरना, रँगना, बाँधना सब एक निश्चित तरीके से होता। बुनने में भी नई-नई कलाओं का प्रयोग है। हस्तकला के साथ हृदय की भावनाओं के प्रस्फुटन के लिए एक सरल साधन और अवसर है। मनोविकास के लिए कला, विशेषकर हस्तकला अमृत तुल्य है। चित्त की शान्ति के लिए यह स्वर्गीय सोपान है। हृदय की कोमलता, स्वच्छता आदि गुणों के लिए कल्पवृक्ष तुल्य है। कला के मोहक साहचर्य से सद्गुण आकर्षित हो आते हैं। आज माताओं बहनों ने इस पुरानी हस्तकला को जो पवित्र होने के साथ परम-उपयोगी भी है विस्मृत करना प्रारम्भ कर दिया है। आज कन्या पितृगृह से विदा होती है तो उसकी बिदाई में कम्पनी के बने चमकीले सूटकेस और इसी भांति के नाना विधी के तड़कीले-भड़कीले सामान दिए जाते हैं। इन सामानों में वह ममता कहाँ जो कन्या के हाथ से, उसकी कला कुशलता के प्रमाण स्वरूप, कुमारावस्था में निर्मित किए गए सामानों के प्रदान में होती थी।

कला को विसर्जित कर कन्याओं में कुटिलता पूर्ण भावनाएँ आने लगीं। रसोई बनाने और झगड़ा करने के अतिरिक्त कम निपुणता रह गई। आलसता और बेकारी छाने लगी।

अतिथि सत्कार में आज किसान भी चीनी अथवा काँच की तश्तरियों में मिष्ठान प्रस्तुत करते देखे जाते हैं। इनमें कन्याओं एवम् कुल बधुओं के हाथ की बनी, रंग-विरंगी, हलकी फुलकी, सुन्दर और आकर्षक डालियों में लाये गये, सत्कार के सामान की मधुरता कहाँ मिलिती है ? उन डालियों में रखी सामग्री ग्रहण करने के विधान में भी पवित्रता का ध्यान रखा गया। सामान उसमें से यथेष्ट मात्रा में निकाल कर अपनी रूमाल पर रखकर खाते हैं। उसी में से निकाल-निकाल कर खाने वाला अशिष्ट समझा जाता है। न केवल यह अतिथि सत्कार अपितु अन्यान्य गृहस्थी के काम इन हाथ बनी डालियों से करते हैं। इतनी बड़ी-बड़ी डालियाँ बनतीं कि १०० अथवा ५० व्यक्ति के भोजन भर आँटा अँट जाता। जो आदि अवसरों पर तौलने की झंझट समाप्त हो जाती। अन्न की राशि तौलने के लिए विभिन्न माप की थापियाँ बनतीं। साधारण माप की डालियाँ जो नित्य व्यवहार में आतीं बनाई जातीं। कीमती बक्सों की जगह घर के सामान, कपड़ा, गहना आदि रखने के लिए गोल-गोल झाँपियाँ, चौकोर बक्स सब इस मूँज की हस्तकला से निर्मित हो जाते। रुपया पैसा रखने के लिए दस जैसी छोटी छोटी डिब्बियाँ या उनकी भाषा में 'हथौडियाँ तैयार हो जातीं। इस कला का प्रचलन नितान्त बन्द नहीं हो गया है तथापि अब इसकी व्यापक योजना पर मुहर लग गई है। नाना प्रकार तड़क-भड़क वाले सामानों के कारण जीवन खर्चीला होता जा रहा है। एक गृहस्थ को दो बक्स खरीदने पड़ गए। इसका अर्थ यह हुआ कि उसे एक बोरा अन्न बेच देना पड़ा। फिर साल में कितने बोरे कुल वह उपार्जित करता ही है ? खर्चे की बात जाने तब भी देखते हैं कि अपनी हस्त एवम् गृहकला का आश्रय छोड़कर हम बनावटी जीवन की ओर जा रहे हैं।

भारतीय स्वराज्य के लिए महात्मा गांधी ने खर्चे की शर्त रखी।

यह ग्रामीण कौशल का एक अंग है। न केवल आर्थिक दृष्टि से बल्कि मानसिक एवम् चारित्रिक सुधार तथा प्रशिक्षण की दृष्टि से इसकी विपुल महत्ता है। जिस प्रकार मूँज की कला कन्याओं में सारल्य, स्वावलम्बन तथा नारी सुलभ मार्दव की प्राण-प्रतिष्ठा करती रही, उसी प्रकार चर्खा उनमें तथा पुरुषों में एकता, पवित्रता, दृढ़ता और स्वतन्त्रता का सूत्रपात करता रहा।

किसान-कन्या की प्रारम्भिक शिक्षा इस मूँज के बने गभउँजे से प्रारम्भ होती है। यह शिक्षा स्कूल या कालिज में नहीं होती। फुरसत के समय 'सूजा' (बुनने का यन्त्र) और 'बरुआ' (बुनने की मूँज द्वारा निर्मित सामग्री) आदि लेकर बड़ी-बूढ़ी माताओं के पास कन्याएँ मँडराती रहती हैं। यह कला वे उन्हीं से प्राप्त करती हैं। इनमें दक्षता प्राप्त कर अन्य हुनर जैसे रसोई करना, कपड़ा सीना, बिस्तर बनाना, कसीदा निकालना, पंखे, तनिका आदि बनाना आदि सीखती हैं। जीवन में धीरे-धीरे हस्तकला का प्रभाव लक्षित होने लगता है। उसका प्रकाश बाहर निकलने लगता है। हाथ में पारस आ जाता है। वह जिस लोहे को छू देता है, सोना हो जाता है। जिस बेडौल और ऊबड़ खाबड़ वस्तु को छू देता है कट-छँट कर साफ-सुथरी, समतौल और चिकनी हो जाती है। घर-बाहर स्वर्ग-सा चमकता रहता है। ये कन्याएँ जब तक पितृ-गृह में रहती हैं, यहाँ की शोभा बढ़ती रहती हैं। पति-गृह में आकर उनकी सीखी हुई समस्त कलाओं का व्यापक-प्रकाश होता है। उनकी उपस्थिति सौरभ बनकर घर का कोना-कोना महमहा देती है। उनका मृदुल व्यवहार समस्त परिजन का सम्बल हो उठता है। बूढ़े सास-ससुर के लिए वे हाथ आँखों की रोशनी हो जाती हैं। घर में मानो लक्ष्मी आ गई। कहा भी जाता है उन्हें गृह लक्ष्मी। ऐसा गृहस्थ परिवार धन्य हो जाता है। बाहर पुरुषों को मूँछें फहराती रहती हैं। सिर ऊँचा रहता है और छाती फूली रहती है। वास-वसन-वासन

चमकते रहते हैं। जहाँ कहीं हाथ लगा नहीं कि मैल साफ। तन की, मन की, घर की, बाहर की, पड़ोस की और गाँव भर की अखिल मैल के लिए यह कला कौशल सम्पन्न गृहलक्ष्मी दिव्य साबुन की बट्टी सी सुशोभित रहती है।

काल गति से शनैः शनैः ग्रामीण अंचल से गृह-लक्ष्मी का यह सुघर स्वरूप धूमिल होकर तिरोहित होता चला जा रहा है। आज जैसे सब कुछ विपरीत हो गया। अधिकांश ग्रामीण परिवारों में सर्वगुण हीना, भार स्वरूपा, साक्षात् दरिद्रा देवियाँ और कलह भवानियाँ किंचित युग-सम्भव स्वच्छन्दता लिए गृहदाह के लिए सास-श्वसुर की काल-रात्रि बनकर "घरते झाँपी बवण्डर" सी पति-गृह में शनि-कन्याएँ आज प्रवेश करती हैं।

स्त्रियों की भाँति पुरुष भी हस्तकला खोकर मानसिक स्वावलम्बन की पृष्ठ-भूमि से स्खलित हो गये। बड़े व्यापक और उच्च गृह-धन्धों की तो चर्चा ही व्यर्थ है। किसान आज रस्सी भी अपने हाथ से नहीं बट लेता। यह पिछले अध्याय में वर्णन किया जा चुका है कि चार-पाई बुनने, बैल बाँधने अथवा इस प्रकार के अन्य कामों के लिए रस्सी की आवश्यकता होने पर वह सीधे बाजार की ओर दौड़ता जाता है। एक सरल साधन मिल गया बाजार। हाथ-पैर न हिलना पड़े। जिस चीज की जरूरत हो बाजार से खरीद लाओ। एक पैदावार का पैसा कितना काम करे? पेट भरे या बाजार कराये? वह भी कम हो गई। खेत बढ़ नहीं गये। हाँ खेत वाले बढ़ गये। अब खाने को मिले तो कैसे? बढ़े हुए लोगों में भी अधिकांश भार-स्वरूप ही हो गये। स्वावलम्बी केवल किसान था पर जिस दिन से उसने बाजार का रास्ता देख लिया और सामान्य वस्तुओं के लिए पैसा खर्च करने लगा, उस दिन से उसके घर में अलक्षित चोर जैसे घुस गये। एक मोटा-मोटा हिसाब रह गया खेती का। उसकी पैदावार बेचकर फैसन-

व्यसन" सारा भार उसी पर लाद दिया जाय तो उसकी कमर टूट जायगी। कपड़ा स्वयं तैयार कर लें, चमार से जूता लें, अपने घर की औरतें कपड़े सी दें, तब पक्के किसान। यह समझकर कि भाग्य में जो बदा होगा मिलेगा ही, किसी प्रकार बो-जोतकर खेत ढक देना ही किसानी नहीं है। नागहानी, आसमानी, सुलतानी से बचा हुआ बेच-कर शहर की ओर दौड़ना ही बुद्धिमानी नहीं। क्या हुआ जो गाँव की बनी वस्तुएँ कम सुन्दर होती हैं? उपयोगी तो होगी किसान दिखावा नहीं चाहता, काम चाहता है।

काम करने वालों से बेकारों की तायदाद बेशी है। इनके घट में प्राण है, यही इनका जीवन है। गाँव के जन-सागर में दिन भर सोते रहने वाले जीव मिलेंगे। वही सारा दिन कठिन काम के व्यतीत करने वाले भी हैं। दोनों शोषित हैं। दोनों स्वयं के लिए शोषक हैं। धूल की तरह जीवन वाले, कीचड़ की तरह भावनाओं वाले, जानवरों की भाँति आहार, निद्रा, भय और मैथुन के पुतले ये निठल्ले मानव कृषक-जीवन के कलंक हैं।

सरकार ने प्रयत्न किया है कि गाँव की वर्तमान दुरवस्था का अन्त हो। भाँति-भाँति के मोटे पतले कागजों पर रंगीन, चमकदार, छोटी-बड़ी और आकर्षक पुस्तकें छपती हैं। स्कूल तो गांव-गांव में हो गए। पुस्तकालय और वाचनालय और वाचनालय भी खुले। प्रौढ़ पाठ-शालाओं का प्रयोग हुआ। सब ऊपरी सुधार के ढाँचे खड़े किए गए। इस प्रयास के फलस्वरूप कृषक पीढ़ी के औसत सुधार में सैकड़ों वर्ष लग जायेंगे। मूल तथ्य यहां है कि आज का पढ़ा-लिखा किसान पुत्र अपने पूर्वजों को मूर्ख समझता है। यद्यपि उन्हीं के बीच का वह पौदा उनसे भी गया गुजरा होता है तथापि शिक्षा का एक अहंकार उसे दबाए रहता है। गांव की शिक्षा और समझदारी शहर में जाकर कुर्सी पर आसन जमाने में है या खेत में हल-बैल के साथ।

किसान के लिए कूप-मंडूक की उपमा दी जाती है। वह गांव के क्षेत्र के बाहर की दुनिया से प्रायः अनभिज्ञ रहता है। मुकदमों के सिल-सिले में जो कचहरियों में आता जाता है वह चलते-पुरजे लोगों में गिना जाता है। उसकी धाक रहती है। इतने पर भी केवल शहर में जाने मात्र से ही कूप-मंडूकता समाप्त नहीं होती। अपनी विशेषताओं को खोकर शहर वालों की नकल से ही प्रगतिशीलता नहीं आती। गाँव में अंग्रेजी जूते को 'बूट' कहा जाता है। यह बूट पहिनने वाला बाबू और बड़ा आदमी समझा जाता है। उसकी कीमत ऊँची होती है। साधारण लोगों के लिए चमरौधा जूता है। शादी-ब्याह के मौके पर एक विशेष किस्म की थोड़ी ऊँची कीमत का लाल जूता लोग करते हैं। अब जमाना आ गया कि सब लोग अंग्रेजी जूता ही पहनते हैं। बीच में कुछ पढ़े-लिखे लोग पहनते थे। अब यह भेद मिट गया। अब तो मजदूर भी बूट पहन कर बाबूनुमा बन जाने लगा है। कुछ दिन यही गति रही तो चमरौधा जूता अजायब घर की वस्तु हो जायगा। जिसे खाने का ठिकाना नहीं वह अजगर-मानव भी बूट बिना विराम नहीं लेता। बालकों की तो इसके बिना पढ़ाई ही नहीं होती। पता नहीं वे पढ़ते हैं या दर्जे में बैठे जूता ही निहारते रहते हैं! कितने ऐसे छात्र देखे गए जिनके पास साल भर किताब-कापियों की कमी रही। कलम-दावात का भी ठिकाना नहीं रहा परन्तु एक जोड़ी जूता अंग्रेजी रहा। जिसे पहन कर बड़ी शान से घर और स्कूल के बीच के रास्ते को वे सुशोभित करते रहे। ऐसी दशा में उनकी मनोदशा का क्या पूछना जो किसी प्रकार खरीद नहीं पाते। कहते हैं कि ऐसे लोग 'कीन' लेते हैं। मगर कहाँ! दूकान पर से नहीं। बारात में, जलसे में अथवा ऐसे ही किसी जन-समारोह में। इसका तरीका बड़ा बेढ़ब है। यह चोरी से कुछ ऊँचे दरजे की चीज है। कभी-कभी जूते के नीचे कुछ पैसे रखकर 'कीन' लेते हैं। भारतवर्ष है न! धर्मानुसार

काम होते हैं। हाय रे अजगर-मानव! तेरा उदर जूते ही भरने में समर्थ है।

न केवल जूते से बल्कि अन्य ऊपरी ढाँचे से ग्रामीण युवक धीरे-धीरे अपने को ऐसा बनाने लगे हैं कि कोई देखकर समझे कि यह भी कोई है! बे पढ़े-लिखे देहाती मनई जब कोट-कमीज पहन कर चलते हैं तो वे शुद्ध तमाशा बन जाते हैं। किसान सिधाई के मारे बाल नहीं बढ़ाते-कटाते थे। आज बूढ़े भी पट्टी कटा रहे हैं। एक ७५ वर्ष के वृद्ध बाबा को शादी का शौक चर्राया। उन्होंने कोट बनवाई। कमीज डटने लगे। सबके ऊपर ओढ़ने के लिए रेशमी चादरा कटे हुए बालों में तेल लगा कर सँवारने भी लगे। गाँव में इस प्रकार के जीव जब पैदा हो जाते हैं तो ग्रामीणों के लिए बे टिकट का तमाशा लग जाता है। किसी ने पूछ दिया कि बाबा बुढ़ौती में क्या शौक-सिंगार कर रहे हो? उन्होंने बताया कि यह तो हमारे पूर्वजों की देन है। उन्होंने हमें पथ दिखाया है। बाल के सिलसिले में उन्होंने बताया कि अभी तो हम लोग कुछ नहीं रखते हैं। हमारे पूज्य पुरुष बड़े शौकीन थे। वे मूँछें साफ करवाते थे और काकुल रखते थे। काकुल शब्द काक शब्द से बना है। इसका नकशा यह है कि दोनों ओर कान के ऊपर कौए की पाँख की भाँति उठा हुआ हो। बीच में माँग काढ़ कर उसे कुसुम का सद्यः प्रफुल्ल कलियों से सजाते हैं। जिस प्रकार औरतें अपनी माँग मोतियों से भरती हैं उसी प्रकार पुरुष लोग अपनी काकुल पुष्प-गुच्छ से प्रपूरित करते थे। प्रमाण स्वरूप उन्होंने तुलसी की एक चौपाई सामने रखी :—

"काक पच्छ सिर सोहत नीके,
गुच्छा बिच बिच कुसुम कली के।"

इसके बाद इसकी विशद व्याख्या के साथ ही साथ बहत्तर प्रकार के रोगों की दवा इस काकुल को उन्होंने बताया।

बाल रखना बुरा नहीं है। यह स्वास्थ्य प्रसाधन का एक प्रसाधन एक अंग है। आरोग्य शास्त्र में इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। फिर भी देश, काल और पात्र का विचार आवश्यक होता है। तीनों समय नहाना, चार छः घन्टे पूजा पाठ करना, दो घन्टे तक व्यायाम करना तथा सुस्वादु-पुष्ट कर भोजन पाना भी तो आवश्यक है। पर सब को साध्य कहाँ ? बाल रखने पर तैल लगाना पड़ेगा। उसे सँवारना पड़ेगा। ऐसा सँवरा-सुधरा व्यक्ति सिर पर गोबर की खाँची उठा कैसे चलेगा ? वह गृहस्थी का मोटा काम करते शरमायेगा। पुनश्च उस सँवरे-सुधरे बाल के मेल में अन्य वस्तुएँ भी तो आपेक्षित होंगी। साफ धुला कपड़ा, चिकनी धोती, स्वच्छ शरीर, सुन्दर भोजन, कम परिश्रम और सैर सपाटे वाले यार दोस्त। इसी लिए पुराने किसान बाल देख कर भड़कते थे। उनका ख्याल था और यह ख्याल बहुत कुछ द्रुस्त था कि यह फैशन कामनाओं का अम्बार लेकर उनकी सीधी सरल दुनिया में घुसेगा तो वे लुट जायेंगे। फैशनेबुल लोग किसानी के मोटे काम में नहीं डँटेंगे। जिनके शरीर, कपड़े और बाल तनिक तनिक में गन्दे हो जायेंगे वे खेतों में, खलिहानों में काम क्या करेंगे ?

यह फैशन और बनाव शृंगार तथा विलासिता वाला अपव्यय शहर या देहाती अमीरों की देखा-देखी फैला। ऐसे सफेद पोश भुखमरों को देखकर एक कहानी याद आ जाती है। एक दिन एक मेढ़क के बच्चे ने कहा—'पिताजी हमने एक बहुत बड़ा जानवर देखा है। वह इतना बड़ा था कि मालूम हुआ हमें कुचल देगा।' मेढ़क ने कहा—'अरे क्या बक करता है। हम से बड़ी और कौन वस्तु है। देखो वह वह इतना ही बड़ा था न ?" और मेढ़क ने साँस रोक कर अपने को फुला दिया। उसके बच्चे ने कहा 'नहीं पिता जी, वह इससे बड़ा था।" मेढ़क ने पुनः अपने को फुलाया। इस प्रकार क्रमशः बच्चे द्वारा उसकी बड़ाई सुन सुन कर वह अपने को फुलाता गया। अन्त में

मेढ़क ने सारी शक्ति लगा दी, उसकी औकात ही कितनी ? कहा "देख अबकी" परन्तु क्या था देखे ? मेढ़क का सारा अंग फट कर बिखर गया।

यही दशा गरीब ग्रामीणों की है। परिश्रम से खाने को मिलता है। फैशन और दिखावे से दरिद्रता बढ़ती है। काम प्यारा है, चाम नहीं। यानी ऊपरी ढाँचे को बड़ों की देखा देखी बनाने लगते हैं तो उजड़ जाते हैं। उन्हें इसका पता भी नहीं चलता। जहाँ पर लोग एक पैसे के लिए आधे मील तक मानो वजन ढोते हैं, जहाँ दो पैसे की बचत के लिए मीलों दूर बाजार से जाकर सौदा लाते हैं, एक आने बिना पानी उतर जाता है और जहाँ दो-चार आना पैसा एक आदमी की एक दिन की मजदूरी है उस किसान की दुनिया में दो पैसे की सिगरेट राख कर देना या चार पैसे का पान खा कर थूक देना अक्षम्य है।

अब तक गाँवों में सत्तर प्रतिशत लोग ऐसे हैं जिन पर भूत-प्रेत शासन करते हैं। जहाँ कहीं ऊँचा टीला या चबूतरा देखते हैं सिर झुका देते हैं। पिछले अध्याय में निठल्लों के प्रकरण में देख चुके हैं ऐसे लोगों को जिनके रोम-रोम में भूत-प्रेत, जिन या दैत्य गुथे हुए हैं। प्रत्येक क्रिया में वे प्रेत-प्रेरणा पाते हैं। समय का एक बहुत बड़ा भाग प्रेत-लीला में ही व्यतीत हो जाता है। इससे अधिक कूप-मंडूकता और क्या हो सकती है कि एक ही प्लेटफार्म पर एक ओर ज्ञान-विज्ञान की बिजली जल रही है दूसरी ओर दिन का पता ही नहीं। चौबीस घण्टा अँधेरा। श्री पी० के० देशमुख ने एक बार बताया कि "मध्यप्रदेश राज्य में हजारों ऐसे व्यक्ति हैं जो झोपड़ी तक बनाना नहीं जानते। वे चिड़ियों और बन्दरों की तरह पेड़ों पर रहते हैं। जनगणना (१९५१) के समय वे पेड़ जिन पर वे रहते हैं चिन्हित कर दिये गये और उसे उनके मकान के खाने में दर्ज कर दिया गया।"

यह तो पिछड़ेपन की चरम सीमा है। भारत में समस्या उनका है

जो किसान होकर भी गोबर फेंकना नहीं जानते। हल चलाना नहीं जानते। बैल नहीं खिला सकते। कुँए से पानी नहीं निकाल सकते। जो यह नहीं जानते कि हँसुए की धार किधर है ? जो गाँव के बाहर नहीं हुए। जो पुराने तरीके के नाम पर रूढ़िग्रस्त जीवन बिताते हैं। जो जानकर भी अपने दोषों से अनजान बने हैं। जो प्राचीनता के नाम पर कराह रहे हैं और नवीनता से भड़क रहे हैं जो विदेशी कृषि के आँकड़े सुनकर दांतों तले उँगली दबा लेते हैं। जिनके लिए एक बीघे में सैकड़ों मन पैदाकर लेना हिमालय लाँघना है। जिन्हें अपने आदि-काल से चले आते हल पर गहरी आस्था है। जो चोख-अमेरिकी व्यवस्था को निशाचरी कहकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। जो अपनी वर्तमान स्थिति से अधिक उन्नति के लिए छटपटाते ही नहीं !

खाद, बीज, सिंचाई, कीड़ों से रक्षा, पशुओं की नस्ल का सुधार, उत्तम चारा, खेत की चकबन्दी, सहकारी खेती और कोआपरेटिव व्यवस्था आदि के बारे में यदि उनसे बातचीत की जाय तो वे इससे अधिक और कुछ नहीं कह पाते कि हमारे यहाँ जो होता आया है वही अभीष्ट और पर्याप्त है। जब उन्नति अवनति की बातें करें तो वे चट इसे प्रभु की लीला बता देंगे। कठिनाई यह होती है कि हमारे किसानों में यह विश्वास ही नहीं जमता कि वास्तव में ऐसा भी होता है। खेती के सिलसिले में विदेशों में जो उन्नति हुई उसे हमारे किसान या तो जानते नहीं अथवा जानकर भी स्वीकार नहीं करते। इनकी समस्या बड़ी उलझी है। पुराने और नये तरीके का अभी संघर्ष यहाँ नहीं हुआ। ट्यूबवेल जो सरकार की कृपा से लगे, अब पलक खोल रहे हैं। निश्चय ही स्वराज्य के पश्चात् जैसे-जैसे नवीनता का प्रकाश फैलता जायगा किसान सजग और सचेत होते जायेंगे।

हमारे ग्रामीणों के परिश्रम का आदर्श है 'हर छोर हैंगा विश्राम।' हल चलाते-चलाते थक गए तो दम मारने के लिए भी बैठना ठीक

नहीं। आराम के लिए "हेंगा" द्वारा काम शुरू करो। यह किसानों का श्रम विधान है। हेंगा में हलवाह और बैल दोनों को आराम मिलता है। जुते हुए खेतों के ऊपर यह सर-सर निकलता चला जाता है। किसान को चलना नहीं पड़ता है। दबाना या किसी प्रकार का जोर नहीं लगाना पड़ता। हल से खेत जोत दिया जाता है और हेंगा (पटेला) से बराबर कर दिया जाता है। तात्पर्य यह कि विश्राम में भी कुछ काम हो। जिस प्रकार स्कूल के समय विभाजकचक्र में घण्टे इस प्रकार रखे जाते हैं कि काम बन्द भी न हो और बालकों को मानसिक आराम भी मिलता चले। गणित के पश्चात् कताई बुनाई और भाषा-साहित्य के पश्चात् कला के घण्टे। इसी प्रकार किसान के कड़े शारीरिक श्रम के पश्चात् हलके श्रम वाला काम। काम बन्द नहीं, विराम भी नहीं अविराम श्रम, अविरल उद्योग और सतत् क्रियाशीलता।

यह 'हेंगा' भी विचित्र है। एक तरफ यह श्रम स्वेद सुखाने का बतास है तो दूसरी तरफ किसान के आलस और उसकी असावधानी का प्रतीक "गाँगू" का "हेंगा" है। गाँगू नाम के किसान से उसके भाई ने खेत में काम करते हुए खेत पटाने के लिए कार्तिक में हेंगा माँगा। वह लाने गया परन्तु ऐसा आलसी निकला कि चैत में लेकर लौटा। भला चैत में हेंगा क्या होगा? उस समय तो खेत में फसल की कटिया होती रहती है। जब उसकी आवश्यकता थी, तब नहीं मिला। जब काम समाप्त हो गया तब आया। यही "गाँगू का हेंगा" कहलाता है।

खेद की बात है कि हमारे किसान "हर छोड़ हेंगा विश्राम" वाला आदर्श भुलाकर "गाँगू का हेंगा" होते जा रहे हैं। समय पर काम नहीं करते। करते भी हैं तो उसमें सावधानी नहीं बरतते। अधिकांश वे समय करते हैं और रोते हैं। पुराने किसानों को अविराम श्रम करते देखकर नए लोग हँसते हैं। इन नए लोगों की आलसी

तबीयत पर, इनका अन्धकारमय भविष्य देखकर पुराने किसान चिन्तित रहते हैं।

खेती की दशा पर पर्याप्त दृष्टिपात हुआ। अब नौकरी पर थोड़ा विचार करें। व्यापार तो बनिए का काम है। बाहर व्यापार करने के लिए रुपया चाहिए और घर पर बनिया कौन बने? "देश चोरी और परदेश भिक्षा" के सूत्र के मुताबिक परदेश में जाकर भीख माँगना भी जायज है पर देश में सिर ऊँचा रखना जरूरी है। भले ही पेट खाली हो। हाँ, नौकरी की ओर लोग ललकते हैं। किसानों के देश में नौकरी चार तरह की हैं। एक हलवाहे के रूप में। यह नौकरी जब तक खेती का काम है तब तक के लिए है। इसमें स्वतंत्रता अधिक रहती है। नियत उपस्थिति नहीं होती। नौकर अपने घर पर रहता है। इसकी आय निश्चित और ठोस होती है। इस कार्य के लिए चमार जाति उसी प्रकार उत्तम समझी जाती है जिस प्रकार सेना के लिए गोरखा जाति। दूसरे प्रकार की नौकरी गृहस्थ के यहाँ बैल खिलाने आदि की होती है। यह नौकरी बहुत प्रचलित है। नौकर गृहस्थ के घर रहकर घर के आदमी की भाँति रहता-खाता है। इसे मासिक वेतन नहीं खेत मिलता है। यह उसकी उम्र और श्रम की योग्यता पर निर्भर होता है। आधे बीघे से लेकर एक-डेढ़ बीघे तक इसका परिमाण होता है। कभी-कभी तो ये नौकर घर के मालिक के समान ही रहते हैं। यह नौकरी छोटी जाति वाले ही अधिक करते हैं। तीसरे प्रकार के नौकर कलकत्ता आदि बाहर के नगरों में जाकर कल-कारखाने में मोटा-झोटा काम करते हैं। इसमें बिना पढ़े-लिखे लोग अधिकतर जाते हैं। इनकी चाल-ढाल में थोड़ा अन्तर आ जाता है। चौथी नौकरी वह जिसे लोग पढ़-लिख कर करते हैं।

छोटी जाति वालों का ध्यान अब आजकल तीसरे प्रकार की नौकरी की ओर अधिक है। चौथी प्रकार की नौकरी के लिए उन्हें विशेष

प्रकार की सरकारी सुविधाएँ भी प्राप्त हैं परन्तु इस क्षेत्र में प्रगति धीमी है।

एक सामान्य किसान का पुत्र नौकरी के लिए पढ़ता है। उसकी शिक्षा अधिकांश मिडिल तक होती है। अब गाँवों में हाईस्कूल खुल गये हैं और वह हाईस्कूल तक पढ़ने लगा है। कालेज में कम जा पाते हैं। इन दर्जों को पास करने के बाद वह बेकार हो जाता है। मुहर्रिरी-क्लर्की से लेकर अध्यापकी तक पर ये चोंच मारते हैं। सफलता नहीं मिलती तो देह बनाकर पुलिस में भर्ती हो जाते हैं। कुछ अच्छी नौकरियों पर भी किसान-परिवार के बालक पहुँच जाते हैं। थानेदार से लेकर जज तक और प्रोफेसर से लेकर इन्जीनियर तक की नौकरियों पर ये पहुँच जाते हैं। परन्तु ऐसा तब समझा जाता है जब साक्षात् विष्णु भगवान भाग्य का फाटक खोल देते हैं। अब ऐसी धारणा जोर पकड़ती जा रही है कि बिना नौकरी-चाकरी के किसान-परिवार पनपता नहीं है। यह भावना कुछ ऐसी ही है जैसे नौकरी में बिना ऊपरी आमदनी के प्राण नहीं होता। घर की कमाई के साथ जिस किसान-परिवार में नौकरी का रुपया नहीं आता, वह उन्नतिशील नहीं समझा जाता।

इतने पर भी बेकारों की संख्या रक्त-बीज की भाँति बढ़ती चली जा रही है। जो गाँव पहले चार घर का होता था। वह बीस घर का पुरवा हो गया। जो दो सौ व्यक्ति का पुरवा था वह एक हजार की जनसंख्या वाला गाँव हो गया। गाँव भी बढ़ते जा रहे हैं। नदी, खोह, गड़हे और गड़ही पाट कर घर बनते जा रहे हैं। माताओं के आशीर्वाद स्वरूप लोग 'एक से इक्कीस' होते जा रहे हैं।

—※—

"जहाँ सुम त तहँ सम्पति नाना"

किसान कहते हैं कि गाँवों का भगवान मालिक है। भगवान के मालिक होने का तात्पर्य यह है कि यहाँ उसी का नियम काम करता है। यहाँ पर सिधाई और सुमति होती है। सचाई और साधुता होती है। श्रम तथा सहिष्णुता होती है। ये सब ईश्वरीय विभूतियाँ है जो गाँवों में सहज सुलभ होती हैं। शेष सांसारिक बिभूतियाँ उनके चरणों पर लोटती हैं। सच पूछें उन्हें इनकी आवश्यकता नहीं। उनकी वास्तविक सम्पति सुमति है। यही उन्हें स्वस्थ, शिक्षित, सच्चरित्र और श्रमिक बनाती है। तुलसी ने लिखा भी :—

"जहाँ सुमति तहाँ सम्पति नाना,
जहाँ कुमति तहाँ विपति निधाना।"

घर, बाहर, व्यक्ति में, परिवार में, विश्व में जहाँ देखें इसी सुमति और कुमति के भीतर सुख और दुख केन्द्रीभूत है। सुमति के लिए यह कोई आवश्यक नहीं कि वह बहुत पढ़े-लिखे के पास हो, यह सुमति धन-कुबेर के पास हो, यह भी निश्चित नहीं अथवा किसी महान पदाधिकारी के पास यह विभूति हो। यह एक साधारण गृहस्थ के यहाँ मिल सकती है। यह एक बनिहार के पास जो दो सूखी रोटियां खाकर झोपड़ी में रहता है, मिल सकती है। वह सुमति जन्य सच्चा सुख जो वर्तमान का सुख समझ कर अनवरत जीवन संघर्ष में शान्ति पूर्वक जुटे रहने में प्राप्त होता है, गाँव के किसान को सहज में ही प्राप्त हो

जाता है। ग्राम सुमति के केन्द्र हैं। यहाँ की सिधाई और सरलता में जीवन का सच्चा आनन्द निहित होता है। यहाँ कर्म की, सत्यता की और ईश्वरीय विधान की सच्ची सुन्दरता देखने में आती है।

क्या गाँवों में आज सुमति का अभाव होने लगा है? ज्ञात तो ऐसा ही हो रहा है। क्योंकि तरह-तरह की बुराइयाँ विपत्ति बनकर घहरा रही हैं। छल-कपट के लिए, मिलावट के लिए शहर ही विख्यात थे। आज इस कुकर्म के लिए गाव भी बदनाम हो गए। आपको घी खरीदना है, नाक रगड़ कर मर जाइए, शुद्ध नहीं मिलेगा। दूध चाहिए, सिर पीट लें, पर पानी ही मिलेगा। तेल में तरह-तरह के कलाम, आटे में, अन्न में, चीनी में, मसाले में, जीवन की प्रत्येक क्रय-विक्रय सम्भव वस्तु में मिलावट, दिखावट और धूर्तता के साथ तिकड़म है। बात-बात में छल-छद्‌म और लूटपाट। जो बुराइयाँ पहले छिप-छिपकर होती थी, आज खुले आम होती हैं, सड़क पर होती हैं। अखबार में छाप-छापकर होती हैं। इसे किसी सरकार ने अथवा दैव ने उतना नहीं बनाया जितना स्वयं ग्रामीणों ने। कारण कि वे अब सीधे न रहे। उनके अन्तस्थल में डस लेने के लिए विषधर फुफुकारता मिलेगा। वातावरण विषाक्त हो गया है और परिस्थिति जीवन को लाचार बनाकर सड़ा देने वाली। कोई किसी का विश्वास नहीं करता। प्रत्येक के जलते घर पर प्रत्येक हाथ सेंकने के लिए कटिबद्ध मिलता है। नाना प्रकार की बीमारियों से प्रत्येक घर एक ऐसा अस्पताल हो गया है। जहाँ औषधि का कोई प्रबन्ध नहीं। गली कूचे तक ही नहीं, सार्वजनिक स्थान भी कुत्ते और मनुष्यों द्वारा की गई भीषण गन्दगी से नागरिकता का उपहास करते हैं। ऊबड़-खाबड़ धूल-कतवार, खँडहर टीले, कीचड, गन्दगी और चिथड़े में जैसे विरूपाक्ष मानवता सर्वत्र अट्टहास कर रही है। दूध-घी देवता पर चढ़ाने के लिए कठिनाई से प्राप्त किये जाते हैं। टटी झोंपड़ियों में आलस्याधिराज महाराज समय

का अधिकांश भाग हुक्का गुड़गुड़ाने में, सोने में या बतकैही में व्यतीत करते हैं। काम के नाम पर कुछ हाथ पर हाथ रखे दिन भर मक्खी मारते रहते हैं। खेतों की मनहूस पैदावार पर ये रोते हैं। अथवा भगवान पर दोषारोपण करते हैं। अधिक से अधिक शासन, स्वराज्य, या सरकार को दो-चार खरी-खोटी सुनाकर संतोष की साँस लेते हैं। ऐसी नर-बानर की शकलें, ऐसे भैंड़-बकरियो के हेंड़े वाले गांव आज नशे में अंगरेजी राज की महत्ता का वर्णन करते नहीं थकते। उनकी जानकारी में स्वराज्य एक वाहीयात चीज है।

जैसा कि दिखाया जा चुका है शताब्दियों की विदेशी हुकुमत ने हमारी नैतिक और चारित्रिक शक्तियों को तोड़ दिया था। रही-सही विशेषताएँ द्वितीय महायुद्ध में भस्म हो गई। फिर क्या? ईमान और नैतिकता बेच कर (शीघ्र धनी हो जाने की होड़-सी लग गई। घर में, रास्ते में, रेल में, दूकान पर, मन्दिर में, तीर्थ में, न्यायालय में और स्कूलों तक में यह चरित्र गत निर्बलता, और नैतिक अधःपात के भयानक पैंतरें दृष्टिगोचर होने लगे। इधर ग्रामीण किसान तो जैसे पागल हो गए। वे अपने को मनुष्य समझते हैं। और दूसरों को अपना आहार। कहते हैं कि ब्रह्मा ने संसार में डेढ़ अक्ल पैदा की। व्यक्ति उसमें से एक को अपने पास अनुभव करता है और आधी अक्ल में सारा विश्व। दूसरों की सुख-सुविधा जिस यत्न से नष्ट हो, वही इष्ट है। मानवता की विशाल परिधि कहाँ? हृदय खोलकर कोई किसी से नहीं मिलता। जिस प्रकार राष्ट्रों का वैमनस्य बढ़ गया है, उसी प्रकार हमारे यहाँ घर-घर में, व्यक्ति-व्यक्ति में मर्मान्तक कलह-कलाप अहर्निश चलता रहता है। न्यायालयों में जाने वाले अपराधों की संख्या दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ रही है। कानूनों के दाव-पेंच पैंतरे वाजों को अधिक प्रसन्न करने लगे है। कानून के माहिर अब शहरों में ही नहीं

रहे। ये गाँवों में गली-गली पाये जाने लगे हैं। ये पहले मरीज बनते हैं और बाद में डाक्टर हो जाते हैं। ये पहले मरीज बनते हैं और बाद में डाक्टर हो जाते हैं। ये पेशेवर कानून के गुण्डे बलि के बकरे खोजते फिरते हैं। ये मुकदमेबाज हैं। कचहरी इनका काबा-कर्बला है। शहर के मोदियों की दूकाने इनके मसजिद-मंदिर हैं तथा वकील-मुख्तार इनके राम-कृष्ण हैं।

खेतों की दशा घोर चिन्ताजनक है। एक तो किसान आलसी और मूर्ख हैं। इसका वर्णन हो चुका है। दूसरी बात है कि सरकार का पूर्ण सहयोग नहीं मिलता रहा है। इस पर आगे विचार करेंगे। तीसरा कारण है कि परस्पर का सहयोग, सद्भाव और भाई चारा वाला भाव समाप्त हो गया है। वह दर्द जो अपने लोगों में मिलना चाहिए नहीं मिलता। जहाँ सतर्क होकर लोग एक दूसरे को गढ़े में झोंकने की राह देखते रहते हैं वहाँ कोई कैसे पनपेगा? जहाँ पर स्वार्थवश ही लोग एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं, प्रेम और सहानुभूति नाम का कोई वस्तु नहीं रह गई है वहाँ क्या पौदे लहरायेंगे? हवा में विष घुल गया है। कण कण में खिंचाव और ऐंठ है। किसी की बढ़ती देखकर एक तरफ लोग जल उठते हैं दूसरी तरफ वह स्वयं इतना इतरा कर फूल उटता है कि उसके पाँव धरती पर पड़ते ही नहीं। सत्य है कि विनाशकाले विपरीत बुद्धिः। खेती प्राण की रक्षा और प्राणि मात्र की कल्याण कामना से नहीं होती। वह जीते रहने का एक नारिस साधन हो गई है। दुर्मति ऐसी छाई कि किसान अपने पद, प्रतिष्ठा और गौरव को भूल बैठे। मालिक से वे मजूर हो गए। धर्मात्मा से स्वार्थी हो गए। सारी दुनिया से उतर कर वे परिवार पर आ गए। अकाल, विपत्ति, भूख और निर्धनता से लड़ना छोड़कर वे अपने भाई से ही लड़ने लगे। जहाँ पूरा गाँव एक परिवार था वहाँ 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' दिखाई पड़ रही है। जहाँ अकारण—दयावन साधु कृषक

पृथ्वी का भार उठाए गौरववान थे वहाँ सकारण निर्दय अहंकार प्रतिमाओं का धक्कमधुक्की से धरती डोल जाती है। जहाँ साधना स्थल खेत थे वहाँ इस पवित्र स्थान को कचहरियों ने घेर लिया। जहाँ लोग हरि कथा में रस लेते थे वहाँ कानून के दाँव-पेच सीखते हैं।

नए और पुराने ग्रामीणों में आश्चर्य जनक अन्तर हो गया है। पुराने किसान सीधे-सादे, ऊँची तबीयत के और स्वस्थ होते थे। तथा आधुनिक किसान फैशनेबुल, स्वार्थी और रोगी होते हैं। गाँव में बूढ़ों, विधवाओं, असहाय और अन्धों का काम सर्व प्रथम होता था। गाँव के धनी मानी प्रतिष्ठित रईस और मुखिया लोग उनकी खोज खबर रखते थे। उनका क्लेश तमाम गाँव का क्लेश था। उन्हें यदि कोई दबाता था तो उनकी रक्षा के लिए अनेकों मैदान में आ जाते थे। गरीब चैन से सोते थे। धनी अपने ऊपर गाँव का बोझ अनुभव करते थे। इसी में उनकी प्रतिष्ठा थी। सबकी खोज खबर लेने के कारण ऐसे लोग बेताज के बादशाह होते थे। हिम्मत नहीं कि ऐसे सरदार का कोई कहना टाल दे। रक्षा और न्याय की दृष्टि से गाँव आत्म निर्भर थे। प्रत्येक गाँव में ऐसे धाक वाले न्याय निष्ठ लोगों के गुण आज भी गाए जाते हैं।

आज किसान बदल गया। उसे गरीब और असहायों का कोई फिक्र नहीं। अनुशासन तो है नहीं। कोई किसी का सुझाव मानने को तैयार नहीं। कोई सत्सुझाव दाता भी नहीं रहा। निन्दा कलह का राज्य है। अपनी शक्ति के मद में चूर बलवान निर्बलों को कुछ नहीं समझते। 'अपना भला भला जग माँ ही' यह प्रिय मंत्र है। नए युग ने उन्हें कोई नया सन्देश नहीं दिया। संगठन और सेवा-भाव जाता रहा। जानवरों के चिकित्सक, सर्वविष के उतारन वाले, जर्राह और तरह तरह के जानकार शनैः शनैः घटते जा रहे हैं। सबने अपने को सीमित और परिमित करना प्रारम्भ कर दिया है। एक वर्ष तक

परस्पर मित्रता निभ जाता है तो बहुत समझा जाता है पुश्तैनी मैत्री अब कहाँ चलती है। इसके पुराने आख्यान भर शेष हैं। मशीन दूर है, पर मशीन युग का किसान अलबत्ते मशीन हो गया है। विज्ञान अभी आँखों से ओझल है पर किसान शुष्क, हिंसक और मगरूर हो गया है। कहना असंगत न होगा कि नए युग में किसान ने जो कुछ सीखा है वह उसे अन्धा, लँगड़ा और आत्म-विस्मृत बनाने का उपकरण सिद्ध हुआ है।

बताते हैं कि यह युग शिक्षा का है। स्कूल-कालेज गाँव-गाँव में आए और हरियाली छाने लगी। विश्वविद्यालयों की शोभा भी ग्रामीण बालक बढ़ाने लगे। गाँवों को अपने पिछले और वर्तमान इतिहास पर इस बात का गर्व है कि देश के नेता, कवि, कलाकार, साहित्यकार, संगीतज्ञ, वैज्ञानिक एवम् विचारक अधिकांश उन्हीं की पैदावार हैं। यहाँ की सरस, स्निग्ध, पुष्टकर, और प्रफुल्लता के परमाणुओं से ओत-प्रोत जलवायु की यह विशेषता है। इस गौरवमय उज्जवल इतिहास के दीपक के नीचे आज अँधेरा है।

गाँवों में गरीबों के लड़के इसलिए पढ़ते हैं कि नौकरी मिल जाय और अमीरों के लड़के इसलिए पढ़ते हैं कि खूब बढ़चढ़ कर तिलक प्राप्त हो जाय। गरीबों के लड़के अनुकूल वातावरण मिला तो सचमुच पढ़ जाते हैं और अमीरों के लड़के प्रायः कुछ दिन स्याही-सोख्ता खराब कर स्कूली जीवन के अवशिष्ट चिन्ह स्वरूप फैशनेबुल व्यक्तित्व लेकर घर लौट आते हैं और नून-तेल-लकड़ी चेत लेते हैं। कभी कभी स्वतंत्रतापूर्वक पृथक जीवन बिताने की कामना से धनी लोगों के लड़के या नौकरी खोजते हैं। इनमें पढ़े लिखे तो ऊँची नौकरियों के उम्मीदवार होते हैं और इन्हें वह मिल भी जाती है। यहाँ से नौकरी की एक परम्परा गाँव के धनी परिवारों में स्थापित हो जाती है और "जल में जल होता है, धन में धन होता है" वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है। ऐसी

नौकरियों वाला ग्रामीण परिवार अन्य किसान परिवार से भिन्न हो जाता है। इनकी चाल, ढाल, रहन, रियासत सब में एक परिष्कृत नागरिकता आ जाती है। शिक्षा के संस्कार प्रबल होने के कारण इस परिवार के बालक विकसित होते चले जाते हैं। ऐसा परिवार गाँव पर भी अपना प्रभाव फेंकता है।

घूम-फिरकर गाँव की शिक्षा नौकरी पर ही आ जाती है। जीवन की शिक्षा, मानवता का विकास, सभ्यता संस्कृति की परिष्कृत, नव-निर्माण, सेवा और देश हित जैसी चीजें तो घलुए में समझी जाती हैं। चार दोहा रामायन कहने भर, चिठ्ठी-पत्री बाँचने भर और घरेलू कागजात देखने भर पढ़ गए तो काफी है किसानों को किसी उच्च शिक्षा की आवश्यकता है भी नहीं। उन्हें खेती की शिक्षा चाहिए। जो नहीं मिल पाती। स्कूलों में नौकरी वाली शिक्षा मिलती है। वह शिक्षा जो नोट लिखा-रटा कर दी जाती है, वह शिक्षा जो सनद दिला देती है तथा नौकरी लगा देती है। ऐसी शिक्षा देने वाले स्कूलों में जाकर किसान के बालकों के हाथ-पैर पतले, शरीर कोमल, तबीयत रंगीन और चाल ढाल निराली हो जाती है। स्कूल की हवा लगी नहीं कि नौकरी को मोहक और रंगीन सपने रात-दिन परेशान करने लगे। उद्योग, हस्तकला, अथवा उपयोग निर्माण की शिक्षा भी होती है। पर होती है नितान्त दिखावटी और ऐसी कि बालक के जीवन में उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता। लड़के तकली चलाते हैं जरूर। मगर उसी दिन जब कि डिप्टी साहब मदरसे में आते हैं। मिट्टी के बर्तन बनाए जाते हैं मगर परीक्षा में पास होने के लिए स्वयं बना तो बना अन्यथा किसी कुम्हार से बनवाकर रख दिया, काम चलता बना। खेती वाले स्कूलों की दशा और बुरी है। वहाँ अधिकांश छात्र भर्ती होते हैं सुपरवाइजर और अर्गनाइजर होकर लम्बा वेतन प्राप्त करने के बाद वे जो सेवा करते हैं वह रोशन है। वेतन भोगी क्या सेवा करता

है ? यह तो मशीन का एक पुर्जा होता है। अपनी जगह पर चला करता है। उसे जो काम दिया गया ठीक-ठीक दिखाने का प्रयत्न करता है, भले ही वह काम कागज पर ही क्यों न हो ! कागजी काम का एक नया रोग हमारे देश में आ गया है। यह काम गाँवों में अधिक होता है। कहीं एक इंच मिट्टी फेंकी गई तो कागज में वह एक गज दर्ज हो जायगी। गाँवों में काम करने का ढंग भी निराला होता है। एक हैट पतलून धारी साहब आए और गाँव के एक घूर पर फावड़ा लेकर पिल पड़े। अथवा किसी हलवाहे से लेकर हल जोतने का आदर्श दिखाने लगे। ऐसे अजीब आदमी द्वारा यह कार्य होते देखकर ग्रामीणों को वैसा ही मनोरंजन पूर्ण कुतूहल होता है जैसे मदारी का खेल देखकर, वे स्वयं भी मनसायन के लिए कुछ उसके साथ काम कर देंगे। सरकारी या सुधार की भाषा में इसे 'हवा बनाना' या 'प्रवृत्ति पैदा करना' कहेंगे परन्तु वास्तव में इसका कोई ठोस असर ग्रामीणों पर नहीं पड़ता। इसका असर श्मशान नैराश्य की भाँति उनकी चित्त की स्लेट पर से तुरत साफ हो जाता है। ऐसे प्रयत्न सरकारी विज्ञप्ति में अधिक बढ़ाचढ़ाकर आँकड़ों के थान पर चढ़कर सामने आते हैं।

गाँव के बालकों को उनकी परिस्थिति।पढ़ने-लिखने तथा विकसित होने नहीं देती। पढ़ाई अधिकतर वातावरण और सहवास की अपेक्षा रखती है इनका वातावरण अजीब भोंडा है। जहाँ चार व्यक्ति एकत्रित हुए खुर्पी-खाँची से अधिक नहीं बढ़ते। बात का सिलसिला बदला तो निन्दा, चुगली, झगड़ा, फन्दा और उपहास की लच्छेदार बात चीत चल पड़ी। सुर्ती तम्बाकू का अध्याय शुरू हुआ। बालक लोग तो जैसे चिलम चढ़ाने के लिए होते ही हैं। इनका यह जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता है फिर ये क्या सीखेंगे ? स्कूल में छः घन्टे ही तो रहते हैं ? १८ घन्टे माता, पिता, पड़ोसी, संगी, मूर्ख, दुष्ट और शैतानों में घिरे रहते हैं। फिर वे क्या सीखेंगे ? शिक्षा का परम्परागत वातावरण

कम किसान के परिवार में मिलता है। रात में कितने घर पढ़ने के लिए तेल नहीं मिलता। कितने घर चारपाई बिछाने भर भी ऐसा निरापद स्थान नहीं जहाँ वे शान्ति पूर्वक पढ़ सकें। कितने किसान रात में पढ़ने पर तेल के अपव्यय की बात सोच कर ताने कसते हैं "एक ही दिन में पढ़कर लाठ हो जायेंगे!" पुनः सिर में लगाने और सब्जी में बघारने के लिये या कान में डालने के लिए भी घर में तेल नहीं वहाँ रात भर अक्षर चाटने के लिए कहाँ से तेल मिले? कितने मारे खार के पढ़ने नहीं देते। उनका विस्वास होता है बच्चा जियेगा तो भीख माग कर पेट भर लेगा। इस प्रकार फाँसी पड़ने की क्या जरूरत। सभा, सोसाइटी, रेडियो, अखबार की तो बात ही बेकार है। इनका तो बहुत से गाँवों में लोग नाम भी नहीं जानते होंगे। धूल गर्द में गली मतलब-बेमतलब फिरना, ऊटपटांग बकना, उलूल-जुलूल दिनचर्या, दुष्टों की संगति और मातारपिताओं की अयोग्यता के कारण बालकों की शिक्षा नाम-मात्र को भी नहीं हो पाती। प्रकृति उन्हें बढ़ावी है इन्सान उन्हें घटाता है। ऐसे वातावरण में पला छात्र आधुनिक युग का ऐसा प्रगतिशील छात्र हो जो गाँवों की हीनावस्था सुधारने का प्रयत्न करे; यह आशा कैसे की जाय? देहाती मनुष्यों की बैठकबाजियों में पढ़ने-लिखने की खिल्ली बहुत सुनते हैं। बालकों के संगी-साथी बालक बेपतवार की नौका भी भाँति उचित अनुचित दिशा का ध्यान नहीं रखते। वे चोरी के साथ अन्यान्य दुर्गुणों को बोते फिरते हैं। वे भी मजबूर हैं। ये भी मजबूर हैं। उनके अभिभावक भी मजबूर हैं। यहाँ सभी मजबूर हैं। गाँव के वातावरण ने सबको ऐसा दबा दिया है कि जो जहाँ है वहीं चिपट गया है। ऊपर उठे तो कैसे? गाँव की हवा ऐसे फुटहे तवे की भाँति हो गई है कि जिसके ऊपर से बेदाग रोटी निकल ही नहीं सकती। यह दूसरी बात है कि रोटी के शुद्ध संस्करण के लिए तवा ही बदलना पड़ेगा।

आज का ग्रामीण छात्र जितनी जल्दी बीड़ी सिगरेट पीने, हुक्के पर बैठने, दल बना कर लड़ाई झगड़ा करने, गाँव के बड़े लोगों की, माता-पिता की भी आलोचना करने, झगड़ा लगाने, दिन भर बवण्डर की तरह घूमने, असमय में ही कुटेवों एवम् अप्राकृतिक दुर्व्विहारों से शक्ति स्फूर्ति से हाथ धोकर उदासी और रोग मोल लेने, फैशन की फाँस में बुरी तरह फँस कर बाप दादे की गाढ़ी कमाई फूँकने, स्कूल में जाकर घर का आटा गीला करने, स्कूल का टाट, बेंच, डेस्क खराब करने के साथ अपना अमूल्य समय बर्बाद करने, अध्यापकों को परेशान करने और गाँव की राजनीति में भाग लेने की अनायास शिक्षा प्राप्त कर लेता है।

स्कूलों की संख्या बढ़ी और नर-बानर झुंड के झुंड स्कूलों की ओर जाते दिखाई पड़े। इन्हें देखकर आशा का सिर ऊँचा हो जाता है परन्तु परखने के बाद पुनः झुक जाता है। शिक्षा के नाम पर ये केवल स्कूल में जाते हैं। उन्नति और प्रगति के नाम पर इनकी ऊँचाई और आयु बढ़ जाती है। ऐसे पढ़ने वाले निकलेंगे जिन्हें घड़ी देखने, मनी-आर्डर करने तथा शुद्ध सरल हिन्दी में घर की चिट्ठी-पत्री भी लिखने नहीं आता। स्कूल में फेल-पास की खाई पार करने के बाद इनसे पुस्तकों का साथ छूट जाता है। सारा जीवन जगगति एवम् युगगति से अपरिचित मिट्टी के ढेले की भाँति बीत गया।

हमारे देश की शिक्षा प्रणाली को ही सदोष बनाया जाता है। गाँवों में इसकी चरम विकृति देखने मे आता है। अध्यापक गण भी विचित्र हैं। दिन भर बीड़ी, सिगरेट, सुर्ती, तम्बाकू, गाली और डाँट फटकार से मुँह खाली नहीं रहता। गाँवों में एक कहावत मशहूर है कि जब शाहजहाँ बादशाह कैद हो गया तो उससे पूछा गया कि तुम क्या क्या चाहते हो? उसने उत्तर दिया कि खाने को चना और पढ़ाने को लड़के। इस पर बिगड़ कर उसके बेटे ने कहाः—"बादशाहत की बू

अब तक नहीं गई ?" मास्टरी क्या है, बादशाहत है। बिना दाम के सैकड़ों गुलाम। कोई नहला रहा है, कोई पैर दबा रहा है, कोई घर से विविध प्रकार की वस्तुएँ खाने पीने के लिए ला रहा है। यह भावना आम लोगों की है। अध्यापक इसे और बढ़ा चढ़ा कर समझाते हैं। यदि शिक्षा की बात छोड़ दें तो अन्य ऊपरी व्यवहार में गुरुकुल से कम हमारे गाँव के विद्यालय नहीं। सेवा बुरी नहीं है। बल्कि इस की टेव वांछनीय है। प्रश्न है कि सिर्फ सेवा ही एक तरफ से होती है या दूसरी तरफ से भी कुछ होता है ? पढ़ाई-लिखाई खाक बला। छड़ी के बल पर सारी विद्वत्ता और शिक्षा प्रणाली चलती है। अखिल गन्दी आदतों के सार्टीफिकेट लेकर स्कूलों से निकलते किसान-शावक देखे गए हैं! पढ़ने की सनद कौन पूछता है ? शिक्षा-प्रसार और शिक्षितों की बेकारी दूर करने के नाम पर ऐसे-ऐसे अध्यापक भर्ती किए गए जो अभी १ वर्ष पढ़ें तब भी शायद ही अपने पद के अनुरूप योग्यता प्राप्त कर सकें। यह महकमा ऐसा है कि कुछ सनद का, कुछ भुजा का, कुछ भाग्य का औ कुछ भगवान का बल लगाकर एक बार दाखिल हो गया तो वह कितना हू अयोग्य क्यों न हो पचपन साल तक के लिए समाज में गधों का गोल बरियार करने के लिए रजिस्टर्ड हो जाता है। सरकार की ओर से इन मदरसों का निरीक्षण करने के लिए जो निरीक्षक तैनात किए जाते हैं वे भी अपनी और अध्यापकों की नौकरी बचाते फिरते हैं। एक निरीक्षक के बारे में लोगों का कहना था कि जितना ही प्रथम कोटि का भोजन मिले, उतना ही उच्चकोटि का मुआइनाहो ! यह सब गड़बड़ झाला है। प्रगति विरोधी समस्याएँ हैं। जनता अन्धी नहीं है। यह सब देखकर मास्टर के प्रति उसकी क्या सम्मान भावना रह जायगी ? सब अध्यापक ऐसे नहीं हैं। कोई कोई तो अत्यन्त कर्मठ, आदर्श और पूज्य मिलते हैं। शोचनीय हैं वे जो इस महान पद को अपने व्यवहारों से कलंकित करते हैं। इन अध्यापकों को पैसा इतना

कम मिलता है कि वे दो कौड़ी के आदमी समझे जाते हैं। ऐसे आदमी जो सीधा सत्तू से लेकर 'पास कराई' (गुरु दक्षिणा) तक के लिए बालकों को परेशान करते रहते हैं। इधर उन बेचारों की दशा विचित्र है :—

"करें मास्टरी दुइ जने खायँ,
लड़के सब ननिअउरे जायँ।"

फिर इन बुराइयों के पंक से कोई ग्रामीण कुल-कमल निकल आता है तो वह अपनी विरोधी परिस्थितियों की प्रतिक्रिया में दूर तक उन्नति करता चला जाता है। शेष बालक उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण के फेर में सनद लिये अंकार्थी बने विद्यालय के बाहर भीतर चक्कर काटते रहते हैं।

छोटे-छोटे बालकों की शिक्षा और टेढ़ी है। गांव के सभी बालक स्कूल में नहीं जाते। कुछ किसान स्कूल में लड़कों को भेजने का अर्थ काम में हर्ज होना समझते हैं। एक तो इधर घर के काम की क्षति और दूसरे पैसा लगाना। आधे से अधिक बालक गाय-भैंस चराते हैं। माँ-बाप के साथ खेत में काम करते हैं। कुछ बालक मारे लाड़-प्यार के और स्कूल की सजा से भड़क कर इस "फाँसी पर चढ़ने" से कतरा जाते हैं। जो स्कूल में जाते हैं उनकी भी शिक्षा अधूरी होती है। उनके कोमल मस्तिष्क पर अक्षरों का कुछ टेढ़ी-सीधी आकृतियाँ मात्र जम पाती हैं। किस प्रकार घर या बाहर रहना चाहिए यह वे नहीं जान पाते। माता-पिताओं की अयोग्यताएँ भी शिक्षा में बाधक हैं। अध्यापक ने घर से कुछ लाने को कहा और माता जी ने समझा दिया कि जाकर कह देना कि घर कोई नहीं था। गुरु जी से झूठ। और इधर माँ की आज्ञा! बालक क्या करे? अध्यापक ने गन्दा रहने के लिए डाँटा अब घर साफ कपड़े मिलें तब न? नित्य देखते-देखते यह गन्दगी न अध्यापक को खटकती है और न माता-पिता को। बालक तो जैसे

रखा जायगा, रहेगा। शिक्षा घर में अंधी और स्कूल में पंगु है? स्कूल और घर के वातावरण में कोई मेल नहीं। उल्टे जबरदस्त खिंचाव है। फलतः किसानों के लड़के उच्च जीवन की आदतों, नवीन संस्कारों एवं उन्नति की निसेनियों से वंचित रह जाते हैं।

गाँवों का सारा मामला ही अन्धेर खाते में पड़ गया है। यहाँ की सारी समस्या उलझ कर गुत्थमगुत्थ हो गई है। मालूम यह होता है कि सारी समस्या का केन्द्र घर है। घर में सबसे महत्त्व का स्थान गृह स्वामिनी का है। उसी की योग्यता अथवा अयोग्यता के ऊपर उन्नति अथवा अवनति निर्भर है। योग्य गृहिणी गरीबी में भी शान्ति, सरसता और आनन्द का वातावरण बनाए रखती है। बालकों का जीवन तो पूर्णतया उनके हाथ में है। बालिकाओं को भी वही गुणों या दुर्गुणों से साज कर पतिगृह में भेजती हैं। गाँवों में योग्य-गृहिणी आज खोजने पर किसी परिवार में मिलती है। अधिकांश तो बालकों को खिलाने-पिलाने, बोलने-बैठने, पढ़ने-लिखने, काम करने, कपड़ा पहनने और बड़ों का सम्मान करने को भी नहीं सिखा पातीं। स्यार कुत्तों की भाँति चारों ओर से घेर कर खाने के लिए बिलबिलाते रहते हैं, मारपीट करते रहते हैं, घर के सामान नष्ट करते रहते हैं। चतुर्दिक काँव-किच और कलह। खेत, बाग, घर, रुपया, धन, जन, माल, मवेशी सब रहते हुए भी एक योग्य गृहिणी के अभाव में घर काँटे की बाड़ की भाँति दुखदायी हो जाता है। गाँवों को जो शान्ति का आदर्श कहते हैं, गृहस्वामिनी की शान्तिप्रियता और शान्तिक्षमता के कारण ही। विपत्ति और विपन्नता में भी जिनकी अपरिसीम सहनशक्ति की पतवार पकड़े परिवार के लोग शान्तिपूर्वक जीवन यात्रा करते हैं। उसकी अखण्ड शान्ति बाहर भीतर प्रकाशित रहती है। ऐसी गृह स्वामिनी की संरक्षकता में पली बालिकाएँ भी लक्ष्मी अथवा सरस्वती का रूप होती हैं। उनमें एक निराली सरलता लक्षित होती है। पारिवारिक

बुराई अपना उत्तराधिकार छोड़ जाती है। बालिकाएँ अपनी माँ से जीवन के तरीके सीखती हैं। पीढ़ियाँ अपने ऊपर गुणों या दुर्गुणों का भार लादे, उन्हें और भी बढ़ाते सरकती चलती हैं।

कुछ गृहिणी घात लगाते ही घर की सुस्वादु और सरस वस्तुओं पर हाथ फेर देती हैं। दिन भर हुक्का गुड़गुड़ाती हैं। आजकल बीड़ी ने प्रवेश किया है और पान के साथ। विचारहीन स्वातंत्र्य की भावना लिए ग्रामीण मैदान में आ गई हैं। विधवाओं ने तो और कमाल कर दिया है ये हमारे देश के त्याग और तप की आदर्श मूर्तियाँ हैं। पति के साथ चिता में जल जाने की अपेक्षा नौजवान विधवाओं का आजीवन पति निष्ठापूर्वक तपस्वी की भाँति जीवन व्यतीत करना कहीं दुष्कर है। आज संयम का बाँध टूट गया है। राग-भोग की अबाध उड़ती हुई विचारधारा ने सारी पवित्रता को झकझोर दिया है। नौजवान विधवाओं की बढ़ती बाढ़ ने उसे और उत्तेजना दी है। दुर्भाग्यवश इस प्रकार की विधवाओं की संख्या गाँवों में प्रति वर्ष बढ़ती जाती है। नौजवान मर ही जाते हैं, कुछ बीमारी से, कुछ युद्ध में टी० बी० से और कुछ आपसी संघर्ष में। ऐसे जवानों की सन्तान हीन पत्नियाँ परिवार की छाती पर पत्थर की तरह बोझ बनकर पड़ जाती हैं। वे एक ऐसा फूल होती हैं जो न तोड़ा जा सकता है न देवता पर चढ़ाया जा सकता है। वह स्वयं झड़ भी नहीं पड़ती। भौंरों को भी मना है उधर जाना। वह डाल पर पड़ी-पड़ी सहमा हुआ सौरभ विखेरती मुरझाने की प्रतीक्षा किया करती है।

बचपन में विवाह हो जाना गाँवों में साधारण बात है। छोटी जातियों में तो पैदा होते ही शादियाँ हो जाती हैं परन्तु उनके यहाँ छूट है। विधवाएँ शादियाँ कर लेती हैं। ऊँची जातियों में यह बात नहीं। जहाँ बाल विवाह और वृद्ध विवाह होंगे वहां सन्तान हीन नौजवान विधवाएँ भी समाज के कठोर नियन्त्रणों में जकड़ी हुई होंगी ही।

भले ही वह अपने पति का दर्शन भी न कर सकी हों। इस बुराई को कौन रोक सकता है ? तिस पर भी गाँवों में। हाई स्कूल तक जाते-जाते ७५ प्रतिशत लड़के विवाहित हो जाते हैं। कुछ तो एक-दो लड़कों के पिता हो गए होते हैं परन्तु रजिस्टर में साफ ! कोरे कुमार !

नए युग की हवा विचित्र है। कहीं इससे हानि हो रही है कहीं लाभ। विधवा—सन्तान हीन विधवा निश्चित् रूप से पुनः विवाह कर देने योग्य है। शास्त्र भी इसका समर्थन करता है। यह प्रश्न जब ग्रामीणों के सामने आता है तो रूढ़ियाँ उन्हें खाने लगती हैं। वे इसे एक गाली मात्र समझते हैं। यह असंभव जैसा लगता है। उन्हें ऐसा लगता है कि इसके बिना क्या हानि होती है जो सनातन पद्धति का अतिक्रमण किया जाय। जैसे सर्वत्र होता है। सब दिन से होता चला आया है वैसे होता रहे। विपरीत इसके आधुनिक युग की हवा लग गई और जिस प्रकार विधवाओं ने सारे संयम-नियम का बाँध तोड़ कर सैर-सपाटा और विलासिता का धूम-धड़ाका शुरू किया वैसे ही पुरुषों ने भी उनकी गति विधि देख कर उन्हें पुनः मंगल सूत्रमें आबद्ध कर अपना सिर दर्द दूर करने के साथ उन्हें भी अनजानी व्यथा से त्राण दे देने में ही कल्याण समझा। गाँवों में बात चल निकली। बूढ़े हाय-तोबा करते रहे।

एक कहावत है कि 'जब कपार फूटे तब गँवार बूझे।' जब तक विधवाएँ घर में शान्ति की, पवित्रता की और तपस्या का मूर्ति बन कर पड़ी रहीं उनके कान पर जूँ तक नहीं रेंगती रही। अब जब कि वे उपद्रव की जड़ तक होने लगीं तब उनका माथा ठनका। जिस विधवा के हिस्से में पर्याप्त जगह-जमीन और सम्पत्ति पड़ जाती है वह अपने पट्टीदारों को ऐसे चक्कर में डालती है कि उन्हें छठी का दूध याद आने लगता है। अबलाओं का मोर्चा कितना जबरदस्त होता है यह कोई देखे। कानून का प्रवेश घरों तक में ऐसा हो गया कि ऐसी स्थिति में

कानूनी 'लफंगे पीर की भाँति शिरनी बताशा पाने लगे। एक तरफ इन विधवाओं द्वारा हक की माँग और दूसरी तरफ घर की बाड़ से झाड़ फटकारकर दुनिया देखने की मुराद! कचहरियों की सीढ़ियाँ इनके पग चाप से सहमने लगीं।

कहा जाता है कि "राँड़, साँड़, सीढ़ी, संन्यासी; इनसे बचे तो सेवे काशी।" ऐसा लगता है कि इस कहावत से अब 'राँड़' शब्द खारिज कर देना चाहिए। राँड़ों की लीला देखनी हो तो गाँवों में जाइए। युग-युग के बन्धन ने टूटकर उन्हें मुक्त कर दिया है। वे आज आचार-भय से भीत नहीं। वे आज लज्जा से पूर्ण अनुशासित नहीं। कुल बधुओं में भी उनकी देखा देखी दुर्गुणों के दौरे होने लगे। मेलों और तीर्थ स्थानों में इनकी भीड़ देखने योग्य होती है। इनकी भक्ति या धर्म की भावना अचानक जाग गई है। क्या अपने जीवन को परम पवित्र और धार्मिक बनाने के लिए ही मेलों, शहरों और रेलगाड़ियों में ये धक्के खाती फिरती हैं अथवा उनकी दमित वासनाओं ने घर का घेरा तोड़कर उन्हें स्वतंत्र कर दिया है? वे वर्जित 'संसार-रस' का स्वाद लेने लग गई हैं। बुराई एक दूर नहीं हुई कि दूसरी ने पैर जमा लिया। ऐसी ही नौजवान विधवाएँ पहले रूप-जीवा हो जाती रहीं। आज यह बाढ़ रुक गई है। अब गाँवों में ही इनके अकांड खड़े होते हैं। आज इनकी जबान में ताकत आ गई है। ये साँड़ सी लड़ती हैं। पार्टियाँ तक खड़ी कर देती हैं। साधारण बात पर भी अदालत का रास्ता नापने लगती हैं। इनकी स्थिति गृहस्थ परिवार में आज खलने लगी है।

ऐसे भी उदाहरण हैं कि विधवाओं ने किसान परिवार को अपने प्रेम और कौशल' से सींच सींच कर हरा भरा रखा इनका तपस्यामय जीवन व्यवहार चातुरी से मिलकर गृहस्थ के लिए वरदान सिद्ध हो गया। घर की बागडोर तक इनके हाथ में रही। इनकी पुनीत जीवन

चर्या से घर स्वर्ग बनकर फूलता-फलता रहा। पुरुष से अधिक दक्षता इनमें पाई गई। कितनी गुणों की खान होती हैं। कितनी सती सी पवित्र अपना तपस्यामय एकान्तिक जीवन लेकर ग्रामीणों की श्रद्धा-पात्री बनी रहती हैं।

विपरीत इसके विधवाओं के कारण कलह-पंक में जब गृहस्थ परिवार डूब जाता है, उसकी गति में मजबूत बेड़ियाँ पड़ने लगती हैं, तब शायद लोग सोचते हैं कि इनको एक रास्ता देना जरूरी है। यह पथ है विवाह का! उनकी स्नेहमयी माताएँ उन्हें मेले बाजारों में घुमायेंगी ही। रंग-विरंगे वस्त्राभूषण एवम् विलास वस्तुएँ उन्हें आकर्षित करेंगी ही। पवित्र और धार्मिक जीवन प्रणाली रही नहीं। कथा-व्रत से लोगों की तबीयत उच्चटती जाती है। शिक्षा धार्मिक रही नहीं। दक्षिणा कामी पंडित पुरोहित कुछ नई प्रगति ला नहीं सकते। इधर विधवाओं को स्वतंत्रता मिल ही जाती है। 'बेचारी की क़िस्मत फूट गई तो इसे तो थोड़ी-बहुत मन की हविश पूरी करने से कौन रोके? इधर मनोभिलाषाएँ बढ़ती गईं। सारे सुखों का केन्द्र पति हैं। जब वह नहीं तो कुछ नहीं। सारी सुख-सुविधा देकर ही क्या किया जब पति ही नहीं। अतः यह बात सामने आने लगी है कि एक सड़े-गले सामाजिक नियम के कारण जिसका अनुमोदन शास्त्र भी नहीं करता क्यों किसी का जीवन बर्बाद किया जाय।

शिक्षित लोगों ने इसका समर्थन किया। अब अशिक्षित ग्रामीणों का भी ध्यान इधर गया है। आखिर उनके पास भी तो देखने की आँखें हैं और वे फूट नहीं गई है। भले ही वे दूर तक नहीं देख सकें, दूर तक नहीं सोच सकें, परन्तु अपने आस पास, घर में होने वाली, दिखाई देने वाली बातों पर तो वे एक बार सोच ही लेते हैं। सत्य पहले रूढ़ियों का दरवाजा तोड़ते डरता है पर धीरे-धीरे धारणा पक्की हो जाने पर शक्ति आ जाती है। आज किसान साफ-साफ देखता है

कि जम्माना बदल गया। माता-पिता का रोब कम हो जा रहा है। वयस्क विवाह शिक्षित लोगों में चल पड़ा है। अब बचपन में शादी कर देने में गोरव समझने वाले लोगों की संख्या घटती जा रही है। धर्म-अधर्म की बहुत सी बातें थोथी हैं। इन सबके कारण उसका माथा उनका और विधवा विवाह की रूढ़ि कुछ ढीली पड़ने लगी है।

इस विधवा-विवाह की बात सुनकर गाँव के वे बूढ़े बाबा चौंकते हैं जो दो वर्ष पहले अपने सिर पर मौर देखने की शुभ लालसा वश जहाँ किसी के तिलकहरू आते ये पहुँच जाते थे, बनठनकर कि कहीं वे ही पसन्द आ जाएँ तो फिर क्या बात है! वे कान पर हाथ रख लेते हैं। "राम! राम!! कलियुग है न! सब भ्रष्ट हो गया। धर्म-कर्म सब स्वाहा! पृथ्वी अब रसातल चली जा जायगी।" इस प्रकार के बूढ़े बाबाओं की मति पर तरस आता है। अब तो रास्ता देखते-देखते निराश हो गए अन्यथा इस उमर में जब जि एक भी दाँत सही सलामत नहीं पत्थर के दाँत लगा कर विवाह के लिए चाँद-सितारे आँखों में बसाए रखते थे। कहा करते थे कि वंश का प्रकाश मरने पर चिल्लू भर पानी देने वाला चाहिए। इनसे कोई यह पूछने वाला नहीं कि इसकी एक आयु होती है या नहीं? इस बुढ़ौती में किससे शादी करोगे? पुत्री से? और विधवा-विवाह से क्यों भड़कते हो? नौजवान और निःसन्तान नारी को पति के नाम निःसम्बल जीवन भर जलते की बात किस शास्त्र में लिखा है?

गाँव में बूढ़ों के विवाह के किस्से भी काफी मनोरंजक होते हैं। कभी कभी तो ये खूब उल्लू बनते हैं। प्रायः इस प्रकार विवाह के लिए उतावली उस समय होती है जब सन्तान नहीं होती है। वंश की नौका बूढ़े के जीर्ण शरीर के रूप में डूब जाने वाली है। ठगने वाले ऐसे ही ही आतुर शिकार खोजते रहते हैं। एकबार एक बूढ़े बाबा की हजारों रुपया व्यय करके शादी होकर आई। घर आकर लड़की लड़का हो गई

और भाग गई। कितने ही कन्याओं के व्यवसायी ऐसे ही उल्लुओं को फँसाने के लिए अपनी कन्याओं को सिखा-पढ़ा कर ठीक किए रहते हैं। शादी के बाद वे ले देकर चम्पत हो जाती हैं। धर्म के ठेकेदार ऐसे बूढ़े लोग वंश परम्परा की सुरक्षा के नाम पर जाति-कुजाति कुछ नहीं मानते। कभी कभी धन के लाभ से लड़की वाले स्वच्छा सेही ऊँट के गले बकरी और गधे के गले जयमाल डलवा देते हैं। कोई कोइ मर्यादा के अनुरूप तिलक न दे सकने के कारण ऊब कर मर्यादा वाले वैभवशील वृद्ध के गले कन्या मढ़कर ऋण से मुक्त हो जाते हैं। कन्या के गले छड़ा बाँध कर कुएँ में फेंक देते हैं। इस वृद्ध-विवाह की जड़ से कितनी बुराइयाँ पैदा होती हैं। इसके नीचे कितने अनाचार पनपते हैं, आँख वाले देखकर भी नहीं देखते।

गाँव के सारे पाखंड एक ओर और विवाह का गुरुडम एक ओर व्यवस्थितरूपसे, समाज के सामने, पंडित पुरोहितों की साक्षी पर तथा मंत्रों के कथित बल पर अत्याचार होते हैं। निरे मूर्ख इसे विधि विधान संज्ञा की प्रदान करते हैं। कि षोड़शी का पाणि-ग्रहण किसी पचपन साले बूढ़े से हो गई। माताएँ कहेंगी "उस जमाने की कोई चूक है जो ऐसा पति मिला।" अथवा "ब्रह्मा की लिखनी भला कौन टाल सकता है?" ऐसा नहीं कि यह सब अनजाने में होता है। जानबूझकर होता है, देखभाल कर होता है और ठोकबजा कर होता है। कन्या शैशव की देहली पार कर ज्यों ही यौवनावस्था में पहुँचती है, पिता अथवा घर के मालिक को उसके विवाह की चिन्ता आ घेरती है। वर की तलाश में वे "तिलकहारू" बनकर घूमते हैं। मक, संक्रान्ति के पश्चात् गाँव में ये वर-खोजी दल के दल चलते मिलते हैं। किसी किसी कन्या के मालिक को कितने ही वर्ष लग जाते हैं। कितते जोड़े जूते हैं। वर खोजने का विधान होता है। बोलने, बैठने, भोजन करने और ठीक-ठीक करने की प्रणाली होती है। घर और वर देखने का पृथक पृथक

दृष्टिकोण होता है। इस कला में कितने लोग प्रवीण होते हैं। उक्त सीजन में उन्हें घर बैठने का अवकाश नहीं रहता। समानता और योग्यता की कक्षाएँ तजबीज की जाती हैं। रुपये-पैसे-जगह-जमीन और मर्यादा का तुलनात्मक अध्ययन होता है। लड़की के सुख-दुख की कल्पना की जाती है। निन्दा करने वाले भी होते हैं। वे वर के घर की कलई खोल देते हैं। इन्हें कटुआ कहते हैं। कितने द्वेष या बैर वंश ऐसा करते हैं। साधारणतया कृषक विवाह काटना पाप समझते हैं। व्याह ठीक करने के सिलसिले में एक भाई दूसरे के यहाँ जाता है। उसका पूर्ण परिचय प्राप्त करता है। इससे सामाजिक सम्बन्ध की वृद्धि होती है। यदि लड़के-लड़की आपस में ही तय करके शादी कर लेते तो यह अवसर कदापि न आता। इतनी जाँच पड़ताल और विचार-विनिमय के बाद भी विवाह में कभी कभी भारी अनर्थ हो जाता है।

पुत्र और पुत्रियों की शादी में गाँव वाले खुलकर खर्च करते हैं। बड़ी धूमधाम होती है। दो चार दिन के लिए सचमुच ही बादशाही आ जाती है। भले ही उसका धरातल ऋण से पंकिल होता है! उनका स्नेह पावस की घटा सा उमड़ पड़ता है। कन्या वाले सोचते हैं, क्या है जो दे दें। वर पक्ष वाले सोचते हैं, क्या है जो व्यय कर दें। पास-पड़ोस के लिए खा-पीकर अघा जाते हैं। यह प्रेम का नकशा विवाह के बाद कभी कभी बदल जाता है। पुत्री का वास्तविक घर पिता का घर नहीं है। वह तो एक प्रकार से पिता के सिर बोझ रहती है जो शादी के बाद उतर जाता है। वह पराए घर की हो जाती है। पराए घर को आबाद करती है। यह पराए की भावना जब जोर मारती है तो कन्याएँ पिता के घर अधिक आशा करने लगती है। पिता का घर एक ऐसी दुधारू गाय है जिसे कन्या, उसका पति, उसके सास-ससुर सब मनमाना दूहना चाहते हैं। कन्या की माँ कभी कभी स्नेहवश इसमें सहयोग देती है। देखा गया है कि इससे घर की व्यवस्था तक में अराजकता अथवा उथल-पुथल मच

जाती है। जिस हिस्सेदार के हिस्से में केवल कन्या होती है और, संयोग वश उसके अन्य हिस्सेदार बाल-बच्चे हुए तो विधाता ही पटरी बैठाता है। लेन-देन का सवाल मनमुटाव का कारण हो जाता है। घर में अलगाव-विलगाव का प्रश्न भी खड़ा हो जाता है।

पति-गृह में वधू-प्रवेश के पश्चात् शनैः शनैः उसका नकशा बदलने लगता है। अपने-पराए की कुछ ऐसी गलत और स्वार्थ तथा भोग पर आश्रित धारणाएँ गृहस्थ के घर जमती जाती हैं कि उनकी प्रतिष्ठित स्नेहमयी सामाजिकता उखड़ती जाती है। माता-पिता बालक पर अपना नैसर्गिक अधिकार सकझते हैं। इसी अधिकार के व्याज से वे वधू पर भी अपना प्रभुत्व चाहते हैं। इधर बधू पति पर अपना सामाजिक अधिकार समझती है और इसी व्याज से सास-ससुर पर भी अपना शासन चाहती है। यह अधिकार का प्रश्न जब पारस्परिक स्नेह को छिन्नमूल कर देता है तब परिवार में कलह का श्री गणेश होता है।

ग्रामीणों की शिक्षा-दीक्षा तथा उनके संस्कार इतने उच्च नहीं कि वे तथ्यातथ्य का विचार कर सहनशीलता का परिचय दें। होता यह है कि कलह का लघु बीज भी बढ़ता ही जाता है। अन्त में स्थिति यह होती है कि पुत्र पिता से अपना हिस्सा लेकर अलग रहने लगता है। वह बूढ़े माता-पिता को खूसट समझता है। उनकी भावनाओं का आदर करने में अपनी हेठी समझता है। कुछ एक दो की बात नहीं। गाँव के बहुतेरे युवक यदि अलग नहीं हो जाते तब भी अपने माता-पिता को विवाह के पश्चात् दुत्कारने लगते हैं। गाली-गलौज और मार-पीट की भी नौबत आ जाती है। स्नेह और अनुशासन कहाँ? जी फट जाता है। ऐसा लगता है कि युवक विवाह की ही प्रतीक्षा में था। संयोगवश कहीं बहुत से भाइयों के बीच कोई अधिक कमासुत बेटा निकल पड़ा तो वह परिवार के सुख-दुख में सम्मिलित रहने की अपेक्षा पृथक रहना ही श्रेयस्कर समझता है। आश्चर्य की बात तो

यह कि इसकी प्रेरणा उन्हें अपनी पत्नी से मिलती है। आज जहाँ भी किसान परिवार में कलह है सबके मूल में स्त्रियाँ हैं। इनकी हीन शिक्षा-दीक्षा और अपने पराए की भावना सदा एकता को उखाड़ फेंकने वाली होती है। इनकी माया में उलझे गृहस्थ बरबाद हो जाते हैं। ऐसी नारियाँ प्रारम्भ से ही पति के कान फूँकना प्रारम्भ कर देती हैं। पूर्ण चेला हो जाने पर लोकलाज घोंट कर उसके इशारे पर वे नंगा नाच नाचने लगते हैं। घर के घर में बन्द नारी के और उन्मुक्त रहने वाले एक पुरुष के दृष्टिकोण में जो अन्तर होता है वह सामने आ जाता है। जो आदर कोई अपने पिता-माता को देता है उससे बढ़कर अपनी सन्तानों से पाता है। यह चक्र चला करता है। स्थायी शान्ति उस किसान परिवार में होती है जहाँ अपने-पराए की भावना रखनेवाली नारियाँ नहीं।

किसानों की दुनिया में देखते आए हैं कि जो बड़ा-बूढ़ा होता है उसका पर्याप्त सम्मान होता है। वह घर का मालिक होता है। अपने विशाल अनुभव से परिवार की व्यवस्था को चलाता है। सभी बालकों एवम् परिवार के सदस्यों को एक आँख से देखता है। एक लाठी से हाँकता है। उसकी व्यवस्था में कोई चूँ नहीं करता। वही पुत्रों की शादी में गहने की व्यवस्था करता है। कोई बीमार पड़ता है तो औषधि की व्यवस्था करता है। वह जानता है कि घर का कौन प्राणी किस प्रकार खाने पहनने का अधिकारी है। घर में यदि कोई कसरती नौजवान है तो उसे औरों की अपेक्षा कुछ अधिक पुष्टिकर भोजन चाहिए। उसके राज्य में घर के सभी प्राणी अपनी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति समझते हुए, उसके बनाए रास्ते पर तन मन से जुटे रहते हैं। अपने घर में इतना सम्मान पाने के पश्चात् वह बाहर भी पूज्य हो जाता है। ऐसे ही वयोवृद्ध ग्रामीण ग्राम की व्यवस्था करते हैं। वे गाँवों में सचमुच रामराज्य स्थापित कर देते हैं।

आज जमाना कुछ ऐसा बदला कि गाँव में नौजवान बूढ़ों की बातें मानने के लिए कतई तैयार नहीं। भले ही वे बातें उनके परम कल्याण की हैं! स्वतंत्रता पूर्वक मनमानी करने में ये हर्षित रहते हैं। ईमानदारी से न सही बेईमानी से ही ये औरों की अपेक्षा अधिक अच्छा खाना-पहनना चाहते हैं। ऐसे नौजवानों का हृदय जब ईर्ष्या की भट्ठी में जल जाता है तो पूज्य माता-पिता को भी वे फूटी आँखों भी नहीं देखना चाहते हैं। भाइयों को तो देखकर जलते ही हैं। ऐसे परिवार के वृद्ध भाग्य को रोते हैं। ग्राम की व्यवस्था ही क्या? घर की व्यवस्था ही उनके सामने दो टूक हो जाती है।

अन्य विशेषताओं की भाँति गाँव के सम्मिलित परिवार की कड़ियाँ भी टूटती जाती हैं। किसानों के परिवार जिसमें लोग सम्मिलित रूप से रहते हैं कलह के अड्डे बने हुए हैं। मन मैला रहता है। सभी सबको आड़े हाथ लेते रहते हैं। लोक लज्जावश अथवा रूढ़िवश ही वे एकत्र हैं अन्यथा उनका मन सदा अपने बालबच्चों के साथ खिंचा-खिंचा रहता है। बात-बात में इसी परिचय से भी मिल जाता है। देवरानी और जेठानी घर में पानी पी पी कर लड़ती हैं। गोत्रोच्चारण के साथ घर की भिन्न-भिन्न समस्याओं एवम् रहस्यों का सत्य अथवा जालीरूप में उद्घाटन करती हैं। लोग उस परिवार रूपी वृद्ध धन को नोच-नोचकर पृथक पृथक पूँजी जमा करती हैं। केन्द्रीय सरकार को लूट-लूटकर प्रान्तीय सरकारें पृथक पृथक मजबूत होती रहती हैं। ऐसी सरकारें कब तक चलेंगी? इस कला में स्त्रियाँ विशेष दक्ष होती हैं। यह कला उन्हीं से पुरुषों ने सीखीं। इस नोच खसोट में परिवार दिवालिया हो जाता है। अपनी जमीन के लघु-लघु अंकों को ले लेकर लोग अलग अलग दुनिया बसाते हैं। बैल-बछिया भी बँट जाते हैं। कभी-कभी यह विलगावकाण्ड उन लोगों से नेतृत्व में सम्पन्न होता है,

जिन्होंने तिकड़म से परिवार का शोषण कर अपने पास मजे की व्यक्तिगत पूँजी बना ली। गहना भी झगड़े की जड़ में होता है। एक पिता के पाँच बेटे हैं। बड़े लड़के की शादी पहले पड़ती है। पहले जोश में अधिक व्यय करके पिता अधिक गहने बनवा देता है। औरों के समय यदि कम गहने बन जाते हैं तो यह बात खटक पैदा करने वाली होती है। कभी कभी बड़ी वधू के गहने ही उतार कर छोटी को चढ़ा दिए जाते हैं। इससे भी अन्त में कलह फूटती है। सरकारी गहना भी चलता है। एक ही डाल बारी बारी से दस लड़कों की शादी में चढ़ गयी। उस पर किसी का अधिकार नहीं। वह मालिक के पास रहता हैं। शादी के बाद पहने जाने वाले गहने अलग से बनते हैं। यह व्यवस्था व्यक्तिगत पूँजी बनाकर चुपके चुपके अच्छे गहने बनवाने की भावना को लेकर औरतों की दुनियाँ में खूब चहल-पहल रखती है। यह वही चहल पहल है जो पुरुषों के नाक में दम कर देती है, कभी उनकी परिस्थिति हिला देती है और परिवार में फूट की दरार पड़ जाती है।

परिवार का मालिक यदि ईमान के रास्ते से तनिक भी विचलित होता है तो वह अपने साथ अपने पूरे परिवार को ले डूबता है। एक परिवार में चार व्यक्ति है। कोई मन से काम नहीं करत।। सोचते हैं कि सबको खाना है, सब इस परिवार के सदस्य हैं तो मैं ही क्यों मरूँ? परिणाम यह होता है कि शासन, पैदावार और मर्यादा का ह्रास होने लगता है। ऐसे परिवार के लोग अलग अलग हो जाते हैं तो उनके लिए बात शुभावह ही होती है। जब आपसी प्रेम न रहा तो एकता का ढोंग व्यर्थ है। 'अपना भला भला जग मोंही, ऐसा सोचने वाले एकत्र कैसे रह सकते हैं? विपरीत इसके चार भाइयों में बड़ा प्रेम है। विश्वास है। सब बिना दूसरे की देखा-देखी किए काम में जुटे रहते हैं। बड़ा भाई मालिक है। मालिक होने पर यदि तनिक भी मैल आई तो वह प्रकाश में आ ही जाती है। फिर सन्देह कटुता,

कलह और अन्त में विलगाव। अन्ततोगत्त्वा यही देखते हैं कि आज व्यक्तिवाद का इतना प्राबल्य हो उठा है कि मनुष्य समाज में जैसे रहने की योग्यता ही खो बैठा है।

एक तरफ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के नारे लग रहे हैं। दूसरी ओर जो कुटुम्ब हैं वे भी छिन्न-भिन्न हो रहे हैं। डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पक रही है। अपनी-अपनी डफली पर सभी अपना-अपना राग अलाप रहे हैं। आज संघ बनाने, सहयोग के आधार पर बड़े बड़े उद्योग की बातें हो रही हैं। यहाँ किसानों में यह क्या हो रहा है? दो सगे भाइयों में पटरी नहीं बैठती। खटपट बनी रहती है। उनकी शिक्षा और उनके संस्कार उन्हें तोड़ रहे हैं। आज मूर्ख स्त्रियाँ ही नहीं, गाँवों में पुरुष भी बेहद मूर्ख जन्म ले रहे हैं। किसानों के नष्ट होते परिवारों के यदि आशा है तो स्त्रियों से। उनका ही यदि सुधार हुआ तो उद्धार सम्भव है। गाँव में आज इसलिए पुरुषों की शिक्षा का प्रश्न नहीं, स्त्रियों की अशिक्षा समस्या बनी है।

परिवार के विघटन में सबसे अधिक दुर्दशा माता-पिता लोगों की होती है। एक तो ये बुढ़ापे के कारण कुत्ते और उल्लू की आयु भोगते घोषित किए जाते हैं। दूसरे जवान और बच्चे इन्हें बात बात में मूर्ख बनाते रहते हैं। वे बोलते नहीं औरों के लिए कुत्ते की तरह भूँकते हैं। उनकी बातें उनके पुत्रों एवम् पुत्र बधुओं को एक दम नहीं भातीं। उनकी आज्ञा और परामर्श उन्हें काटने दौड़ते हैं। बात यह है कि आज के युवक ही नहीं बालक तक अपने को बेहद बुद्धिमान समझता है। अतएव बूढ़ों का कहना वे इस कान से सुनकर उस कान के रास्ते निकाल देते हैं। बात यदि पेट में अटक गई तो बड़ी फजीहत होती है। कितना अनुभव, कितनीशिक्षा, कितनी वास्तविकता बड़ी और कितनी आत्मीयता होती है बूढ़ों की वाणी में। चार दिन के छ्रकरे मस्ती में यह नहीं जान पाते! अपने जनक एवम् जननी की छोटी-छोटी

इच्छाओं को भी नहीं सुनते। परिवार का रथ ठीक ठिकाने चलता है। तब भी इन बूढ़े बाबा लोगों की बड़ी दुर्दशा होती है। परिवार यदि विशृंखल हो गया तब तो इनकी यन्त्रणा का अन्त नहीं। एक तो स्वयं ही बुढ़ापा दुखदायी होता हैं दूसरे ग्रामीण बूढ़े अनेक कारणों से एकदम पंगु हो जाते हैं। इतने पर भी इनकी इच्छा होती है कि कोई इनकी बातें सुने, उनका कहना करे एवम् उनके अनुभवों से लाभ उठाए। इधर नए लोग उनका पूर्णतया बहिष्कार करते हैं। यह खटपट का कारण हो जाता है। कितने युवक बेटे अपनी भुजाओं के बल (!) से घसीट कर उन्हें घर से बाहर कर देते हैं। माताओं की दशा इससे भी गई बीती होती है। उनकी दुनिया में तो और अन्धकार है।

इधर सास का शासन और उधर नव बधू के पैर जमीन पर नहीं पड़ते। दोनों में एक खिंचाव सा चलता है। संयोग से सास जी यदि मालकिन पद से अपदस्थ हो गईं तब उनका कहीं ठिकाना नहीं होता। एक ओर उनके सामने ही जवान बधू उनपर नियंत्रण रखना चाहती है दूसरी ओर घर घर घूम कर अपने बेटे तथा बधू की निन्दा के अतिरिक्त उनका कोई दूसरा काम नहीं विग्रह और बढ़ता जाता है।

आजीवन कंकड़-पत्थर चुन कर महल बनाने वाले किसान बुढ़ापे में जब अपनी सन्तानों द्वारा अपदस्थ कर अपमानित किए जाते हैं तब उन्हें संसार की माया, जगत प्रपंच की निस्सारता एवम् भगवद् भक्ति सूझती है। इतने पर भी भीतर जमा स्वार्थ का संस्कार कभी-कभी बाहर आ जाता है इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं, आँखें बन्द होने वाली हैं, चला फिरा नहीं जाता, चारपाई पर बैठे बैठे सुर्ती तम्बाकू की फरमाइश, खाने-पीने की माँग के अतिरिक्त बचे समय में उच्च स्वर से राम-राम या हनुमान चालीसा की रट तथा आने जाने वालों का कुशल-मंगल यही पूरे दिन का धन्धा है। बेटे नाती उन्हें देखकर नित्य मौत मनाते हैं। ऐसे में यदि किसी पहीदार से किसी बात पर संघर्ष हो गया तो

इनके मुख से गालियों की अजस्र धारा निकलने की लगी। ऐसे अवसर पर बूढ़े अपनी लकुटी थामे कहते सुने गए कि "रहा प्रथम बल मम तन नाहीं।" मालूम होता है इनका ईश्वर चिन्तन निरा निरर्थक एवम् विवशता जनित दिखाऊ होता है। कदाचित् सोचते हों कि इससे लोग अधिक आदर करेंगे।

बुढ़ियों में कुछ अधिक हार्दिकता होती है। जगत के प्रपंच में जिस प्रकार वे आपद मस्तक डूबी रहती हैं उसी प्रकार धर्म कर्म के मार्ग पर भी कुछ अधिक मनोयोग से कभी कभी चलने लगती हैं। जब बेटा, बेटी नाती और पतोहू से उनका मन भर जाता है, तब वे परलोक का चिन्तन करती हैं। यद्यपि यह परलोक का चिन्तन भय और विवशता वश होता है तथपि इसमें एक विचित्र उल्लास और तन्मयता पाते हैं। उनकी दुनियाँ में इसकी कोई व्यवस्थित शिक्षा ही नहीं। वे करें तो क्या करें ? एक माता जो जीवन यात्रा से एकदम थकित हो गई थीं कार्तिक पूर्णिमा के दिन गंगा स्नान कर चली आ रही थी। साथ में उन्हीं की आयु की अन्य दो माताएँ थीं। तीनों के हाथ तीनों के गल में मिले थे और मिला गला जिससे उनका हृदय स्वर बनकर फूट रहा था :—

करो रे मन ! ओह दिन की तदवीर !
जब यमराज जी खम्भ में बँधिहैं
लौह धिकाई के दगिहैं शरीर,
सहब कइसे पीर ! करो रे मन० !"

इस स्वर में जीवन की कितनी यथार्थ झंकार है इसे सब लोग क्या जाने ? उनका विश्वास, उनका संस्कार, उनका जीवन और उनकी भावना गीत में फूट पड़ी है। मालूम होता है शरीर भर उनका इस संसार में है। उनका मन सुदूर यम लोक में विचर रहा है जहाँ पाप पुण्य का हिसाब-किताब होता है। साथ ही अपने इस अवशिष्ट बर्तमान

जीवन का भी ध्यान है । वे अपनी खोई पूँजी एकत्र करना चाहती हैं । वह ँजी जो परलोक में काम आये ।

यह एक अजीब सी बात है कि सारे जीवन को संसार का भोग भोगने में, नाना प्रकार के सत्यासत्य काम करने में और माया के सुदृढ़ पाश में बाँध कर नचाने वाले ग्रामीण जीवन के संध्याकाल में ध्यान लगाने बैठ जाते हैं । ध्यान लगता नहीं और रह रह कर उचट जाता है । वह संसार के कर्म कलाप, स्मृतियों और कल्पनाओं के चतुर्दिक मँडराया करता है । ऐसी दशा में लोग उन्हें पागल या बगुला भक्त कहते हैं । सचाई छिप नहीं सकती । जीवन भर दो को लड़ा कर तमाशा देखना और स्वार्थ सिद्ध करना जिनका मुख्य पेशा रहा ऐसे तिकड़म बाज ग्रामीण साधुओं के जैसे स्वच्छ परिधान में सार्वजनिक स्थान अथवा मार्ग पर पूजा पाठ करते देखे जाते हैं । जबान पर घी शक्कर और पेट में जहर की छुरी । ऊपर दया का दरिया बह रहा है । भीतर प्राणघाती घड़ियाल घात लगाए बैठा है । ऐसे ही पाखण्डी कहीं कहीं गाँव के तमाम झगड़ों की जड़ में होते हैं । गाँव वाले साधु रूप अथवा भजन भाव की आड़ में खूब उल्लू बनाते हैं । उनके पाप कृत्यों से परिचित भी उनके जाल में आ जाते हैं । उनका जादू ऐसा होता है जो सिर पर चढ़कर बोलता है । गाँवों में किसी गृहस्थ को साधुता का दिखावा करते देखा जाय और साथ ही वह सार्वजनिक मामलों में भाग भी लेता हो तो समझना चाहिए वह पहले दरजे का खतरनाक आदमी है । उसके काटे लहर भी नहीं आयेगी । जिस प्रकार उसके वस्त्र स्वच्छ हैं उसी प्रकार उसका मन भी स्वच्छ नहीं होता । हाँ ऊपर से बेदाग है । भोले भाले ग्रामीणों की क्या बिसात है कि उसे किसी बात में पकड़ सकें । वह पक्का आचार्य होता है और सिखाता है कि किस प्रकार नहला के ऊपर दहला रखते हैं, किस प्रकार गोटी लाल करते हैं । किस प्रकार सेर पर सवा सेर हुआ जाता है । किस प्रकार जहाँ सुई भर भी

जगह नहीं होती वहाँ ताड़ घुसा दिया जाता है ऐसे ही आचार्यों के चेले सेंध लगाते हैं। बैल खोलते (चुराते) हैं। डाका डालते हैं। खड़ी फसल काट ले जाते हैं। खलिहान में आग लगा देते हैं। ये ही कोढ़ी होकर मरते भी हैं। ग्रामीणों का विश्वास है और यह विश्वास सत्य है कि कुल में पापाचार करने वाले और खलिहान फूँकने वाले कोढ़ी होकर मरते हैं। उनका नरक कहीं अन्यत्र नहीं। यहीं होता है। दुनिया के सामने वे पाप-फल भोगते हैं। मरने के बाद क्या होता है, यह कौन जानता ? न जाने कौन कौन सी अनजानी यन्त्रणाओं का विधान है।

ऐसे धूर्त भक्तों में वे लोग अधिकांश होते हैं जो गाँव के धनी, जमीदार अथवा महाजन हैं ! ये अत्यन्त निर्दयी व्यक्ति होते हैं। इनकी शान ग़रीब अपने दुर्बल कन्धों पर ढोते हैं। इनके वैभव की रंगीनी के लिए ग़रीब अपना निःशेष रक्त प्रदान करते हैं। इतने पर भी ये नहीं अघाते। उनके ऊपर नाना प्रकार के जुल्म के पहाड़ और विपत्ति के बादल घहराया करते हैं। ऐसे धनियों के एजेन्ट कुछ ग़रीब किसानों में से ही हुआ करते हैं। एक तरफ वे किसानों अर्थात् अपने छोटे भाइयों के नेता होते हैं और दूसरी तरफ ऊँचे लोगों के ऐसे हथियार होते हैं जिनसे वे ग़रीबों की गरदने उड़ाने का काम लेते हैं। गाँव वाले क्या जाने ! ऐसे रक्षक ही भक्षक होते हैं। किसानों की सिधाई का अनुचित लाभ उठाते हैं। जमाने की देखा देखी किसान भी तिकड़मी हुए मगर उनका सारा चातुर्य अपने गरीब भाइयों तक ही सीमित रहता है। संगठित होकर किसी बड़ी शक्ति से लोहा लेना वे नहीं जानते।

व्यक्तिगत पूँजी बनाने की सनक स्त्रियों में बेतरह भर गई है। अपने किसी भविष्य में आने वाले विशेष 'दिनरात' के लिए वे मर मर कर पैसा जोड़ती हैं। यह पैसा अनर्थ मूलक होता है। किसान परिवार की सुख और शान्ति ऐसा छप्पर है जिसमें ऐसे पैसे की चिनगारी सर्वनाश

का दृश्य उपस्थित कर देती है। निन्यानबे का फेर बहुत मशहूर है। पैसा जोड़ने वाली स्त्रियाँ प्रायः निन्यानबे के फेर में ही रहा करती हैं। वे स्वयं खाने पहनने को भी पैसे के लोभ में कुछ नहीं समझतीं। परिवार की सुख-सुविधा, उन्नति-अभ्युदय कामना भी पैसे के सामने दब जाती हैं। अपने पति तक से प्रवंचना और धोखा धड़ी का बर्ताव करती हैं पैसे के लिए। टका धर्म टका कर्म। वह कौन सा 'दिनरात' है जिसके लिए यह पैसा जोड़ा जाता है समझ में नहीं आता। कदाचित् बुढ़ापे के भीषण आक्रमण से रक्षा के लिए खाई खोदी जाती है। प्रायः देखा जाता है कि बूढ़ी स्त्रियों का तभी काफी सम्मान होता है जब उनके पास धन होता है। घर के सभी प्राणी उनके विश्वासपात्र और कृपापात्र बनने के लिए तरह तरह की सेवा किया करते हैं। विपरीत इसके जिनका हाथ खाली होताहै उनका उतना सम्मान नहीं होता है। स्त्रियों में इस सम्बन्ध की एक कहावत प्रसिद्ध है। 'ऐ छूँछा ! तो को कौन पूछा ?" अर्थात् जो रिक्तहस्त है उसे कोई नहीं पूछता। बुढ़ापे की तैयारी के अतिरिक्त इस व्यक्तिगत पूँजीके बनाने के और भी कितने ही कारण होते हैं। कितने घर की स्त्रियों को जीवन के आवश्यक उपयोगी सामान प्राप्त नहीं होते। अतः वे ऐसी तिकड़म से अपनी पूर्ति करती हैं। कितनी अपनी प्यारी पुत्रियों का प्रेम निभाने की कल्पना से घर की मालिक की आँख में धूल झोंक कर कुछ झटक लेती हैं। कितनों की आदत ही ऐसी होती है। कितनी अपनी देवरानी,जेठानी की देखा देखी ऐसा करतीं हैं। वास्तविक बात यह है कि स्त्रियाँ घरों में पराधीनता का इतना अनुभव करतीं हैं कि मालिक से कुछ नोच खसोट की भावना आ जाती है।

जिनके ऊपर घर का सारा बोझ होता है अथवा जो साक्षात् लक्ष्मी की प्रति मूर्ति बन घर में विराजती रहती हैं उनकी बात कुछ और है। सामान्य कृषक कुल बधुओं की बात लिखी जा रही है।

व्यक्तिगत पूँजी बनाने की इस कुभावना का परिणाम यह होता है कि घरों में जेल की तरह तिकड़म का बाजार गर्म हो जाता है। जेल का तिकड़म मशहूर है। वहाँ कैदी मनचाही वस्तुएँ बाहर से मँगा लेता है। बाहर भेज भी देता है। इस तिकड़म से जेब भरती है सन्तरी एवम् अन्यान्य जेल कर्मचारियों की। इधर घर की तिकड़मबाजी से पड़ोस के बनिए पैसा गाँठते हैं। दो रुपए की वस्तु का दाम दो आना है जब कि वह घर से चुराकर उनके यहाँ जाती है। इधर स्त्रियों में यह भावना होती है कि लगता क्या है? जो मिलता है मिले। जब लोभ का ऐनक आँखों पर पड़ता है तब कुछ दूसरा ही दिखाई पड़ने लगता है। घर का हिताहित सब अलग हो जाता है। आखिर अपनी निज की पूँजी बनाने का साधन क्या है? घर के पेट में से ही तो काटकर वह बनेगी? ऐसा भी होता है कि स्त्रियाँ अपने कमासुत पति से धन ऐंठती हैं। ऐसी परिस्थिति में घर में अविश्वास, असन्तोष और कलह का वातावरण उत्पन्न होता है। जहाँ ऐसी स्थिति नहीं है वहाँ तिकड़मी स्त्रियाँ घर के समान पर ही हाथ फेरती हैं। ऐसी भी स्त्रियाँ मिलती हैं जो पैसे के आकर्षण में अपने नैहर से पाई हुई सामग्रियाँ बेच देती हैं। अपने विशेष कपड़े और गहने तक बेच देती हैं। साधारणतया उनकी चोरबाजारी यों होती है। घर की कोई बूढ़ी मालकिन तीन सेर की जगह ढाई सेर राशन देती है। उसने आधा सेर बचाया। नई वधू ने ढाई सेर की जगह दो सेर ही पकाया। अब तीन सेर के खाने वाले दो सेर से कैसे सन्तुष्ट होंगे। इसके लिए तिकड़म यह कि रसोई ही बिगाड़ दिया अधिक पानी डाल दिया। निश्चित है कि काम तो चल ही जाता है। और नहीं तो स्वयं अपने भूखे रहकर कोटा पूरा कर दिया। न केवल अन्न में बल्कि दूध, घी दही और माठा तक में यही दशा है। जिस घर में इस प्रकार चोर-बाजारी चलती है वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। खलिहान से गल्ला जब

घर आता है, तब यह विनाश-लीला खूब चलती है। छोटी-छोटी लड़कियाँ आँख बचाकर अनाज उड़ा ले जाती हैं। इस प्रकार वे भी सीखती हैं।

कितने किसान परिवार में पुरुष ही स्त्रियों को ऐसा करने के लिए प्रोत्साहन देते हैं तथा अपने पाँव तले की डाल काटते हैं। उनका ख्याल होता है कि रुपया घर में ही है न ! बाहर थोड़े जाता है और वक्त पर काम आयेगा। वे यह नहीं जानते कि सम्पूर्ण परिवार का एक सौ रुपया नष्ट होगा तब कहीं उनकी देवी जी के बटुए में दस रुपए की वृद्धि होती है ! कितने मालिक ही अपने विशेष प्रिय-परिजन के लिए ईमान को नाक पर रख देते हैं। एक कठिनाई की बात यह है कि किसान का धन अन्न है जो अपने वास्तविक रूप में धन नहीं समझा जाता। वह बनिए के घर जाकर धन बनता है। उनकी आमदनी का साधन भी वही है। इस प्रकार यह पता नहीं रहता कि ठीक-ठीक कितना धन पास में है जिसका हिसाब हो। उस अनाज में परिवार वालों की मूर्खतावश तिकड़म और चोरबाजारी का घुन लग जाता है। एकाध सम्पन्न परिवार में अन्न की पैदावार बहुत होने पर भी साल भर दरिद्रता छाई रहती है। खलिहान से अन्न घर जाता है। वहाँ जाते ही उसमें पख लग जाते हैं। दाने-दाने उड़ने लगते हैं। जितने परिवार के सदस्य हैं सब बहते दरिया में हाथ धोते हैं। सभी की देवियों के हाथ साफ होते हैं। यह हर साल की दशा है। बाहर ऋण तथा देन महाजन का चक्र चल रहा है। भीतर रुपए का स्रोत बह रहा है। सबका स्वार्थ पृथक्-पृथक् है। यह पृथकता दिन प्रतिदिन बढ़ती-बढ़ती एक दिन अवस्था ऐसी होती है कि सब अपना-अपना हिस्सा लेकर अलग हो जाते हैं। चार दिनों में वह सब संचित धन समाप्त हो जाता है और नून तेल लकड़ी का चक्र चलता है तब आटे दाल का भाव मालूम होता है।

—*—

"हुक्का हरि को लाड़िलो"

जब मैंने गाँव के एक बूढ़े बाबा से हुक्के की हानियों पर एक लम्बी बात-चीत की तो उससे ऊबकर उन्होंने दो दोहे सुनाए, जैसे ये दोहे उनकी विजय के लिए पर्याप्त हों। शास्त्रार्थ में जैसे पक्के प्रमाण शास्त्र के वचन उपस्थित किए जाते हैं वैसे ही उन्होंने श्लोक की भाँति बड़ी गम्भीरता से ये दोहे सुनाए :—

"(१) हुक्का हरि को लाड़िलो, राखे सबका मान,
मध्य सभा में यों ढुरै, ज्यों गोपिन में कान्ह !
(२) कृष्ण चले गोलोक को, राधा पकरी बाँह,
इहाँ तमाखू खाइलो, वहाँ तमाखू नाहिं !"

इसके उपरान्त एक लम्बा प्रवचन कलेजे पर हाथ रखकर सुनना पड़ा। अन्त में उन्होंने जो बताया उसका भाव यह था कि हुक्का प्रभु का का वरदान है। यह गृहस्थ की प्रतिष्ठा है। एक सहारा है। जीवन की नीरसता में सरसता का संचार करता है। मनहूसी में सुरुचिपूर्ण वातावरण उत्पन्न कर देता है। यह हुक्का सभा का शृंगार है। मृत्युलोक के प्राणियों के लिए अमृत तुल्य है। स्वर्ग में लोग इसकी सुगन्ध के लिए सिहाते हैं। भगवान कृष्ण इस तमाखू को खाया-पीया करते थे। तभी तो महारानी राधिका स्वर्ग जाते समय बहुत ही आग्रहपूर्वक निवेदन करती हैं कि महाराज ! यह तमाखू ग्रहण कीजिए। क्यों शीघ्र चले जा रहे हैं। वहाँ पर यह दुर्लभ वस्तु कहाँ मिलेगी ? आदि आदि।

इतना लम्बा-चौड़ा हुक्का स्तवन सुनकर हमारे तो होश ही हिरन हो गए। मैंने सोचा, यह हिन्दुस्तान है। शंकर का विषपान और भंग के गोले के साथ, गाँजे के दम के साथ, धतूरे के बीज के साथ उनका स्थायी सम्बन्ध जब सत्य है तो इस विषैली वस्तु का किसानों के जीवन में अनिवार्य शर्त हो जाना क्या आश्चर्य की बात है! एक तरफ यह भी सत्य है कि हुक्के ने गाँवों में गरीबी लाई दूसरी तरफ यह भी सत्य है कि गाँव के गरीब हुक्का पीकर जीते हैं। काम करते हैं। गम गलत करते हैं। दरिद्रता की मनहूसी को इसके सहारे काट लेते हैं। कदाचित् ही किसान नामधारी कोई ऐसा जीव हो जो तामाखू खाता-पीता न हो।

खाने वाले तमाखू में मुख्य सुर्ती है, सूँघने वाले में 'नस' और पीने वाले तमाखू में विविध रूप-रंग हैं। गाँव वाले नस को 'सुँघनी' और सुरती को 'खइनी' भी कहते हैं। सुँघनी वाले जिस अनुपात में कम हैं खइनी वाले उसी अनुपात में बेशी हैं। इस सम्बन्ध में गाँव-गाँव की पृथक्-पृथक् प्रकृति भी होती है। किसी किसी गाँव में विशेष प्रकार का नशा प्रचलित हो जाता है। बलिया और बिहार के सीमावर्ती चार गाँवों को जोड़कर वहाँ प्रचलित नशे के बारे में एक कहावत कही जाती है। जो इस प्रकार है :—

"'भुरा' भरौली, 'सुर्ती' सोहाँव
'गाँजा' अहिरौली, 'नस' नदाँव"

'भुरा' तम्बाकू को एक विशेष भुरभुरी जाति जिसमें धुँआ अधिक निकलता है और जलाने में सरलता होती है। नस का चस्का कितने कितने गाँवों में नस्कर लोग प्रसाद बाँट-बाँट कर लगा देते हैं। धीरे-धीरे आदत पड़ जाने पर यह नशा भी गले पड़ जाता है। जिसे देखो डिबिया खोलकर चुटकी से निकालता है और चुटकी नाँक के पास गई नहीं कि परमानन्द का अनुभव प्राप्त होने लगा।

पीने वाले तमाखू में हुक्का, चिलम, गाँजा, बीड़ी, सिगरेट, चरस, चण्डू आदि प्रमुख हैं। इनमें बीड़ी, गाँजा और हुक्के का प्रचार गाँवों में द्रष्टव्य है। शराब को गाँव वाले छूते नहीं। इसके स्पर्श से धर्म नष्ट हो जाता है। यह छोटी जातियों में कुछ चलता है विशेषकर भूतों से मोर्चा लेते समय। अफीम का आनन्द भी लेने वाले यहाँ कम हैं। शहरों में आने-जाने अथवा रहने वालों की संगतिवश कहीं-कहीं इसका प्रसार पाते हैं। दूसरी बात यह कि कामकाजी ग्रामीणों की प्रकृति के मेल में यह नशा नहीं बैठता। वे नशा-नशा के लिए नहीं ग्रहण करते बल्कि अपने काम में सहायता पहुँचाने या थकावट दूर करने के लिए इसकी संगत करते हैं। गर्मी के दिनों में भाँग सेवन करने वालों के एकाध दल गाँवों में दिखाई पड़ते हैं। इसे लोग काशी-निवासी अविनाशी की विभूति समझकर होली में ग्रहण करते हैं। किसी-किसी गाँव में इसके नित्य सेवी लोग भी हैं।

"घोर कलियुग आ गया" से बातचीत शुरू करने वाले बूढ़े लोग तथा देहाती मुकदमेबाज हुक्के-बीड़ी के दीवाने बने रहते हैं। समय काटने अथवा बेकारी का इससे सुन्दर सहारा और होगा ही क्या? चिलम पर चिलम चढ़ती चली जा रही है। मधुर चुम्बन की तरह ओठ छेद पर रखकर धूम्ररस खींच रहे हैं। भीतर से गुड़गुड़ की मीठी ध्वनि निकलकर वायुमण्डल में मुखरित हो रही है। मुँह से धुएँ का सीधा सीधा फौवारा निकल रहा है। गड़गड़े अथवा गुड़गुड़ी (हुक्के का पर्याय) ने बैठकी में सरसता का सञ्चार कर दिया है। बीच-बीच में सुर्ती का भी एकाध अध्याय चलता है। जैसे-जैसे हुक्का इस हाथ से उस हाथ घूम रहा है उसी प्रकार वार्तालाप भी क्रम से एक मुँह से दूसरे मुँह में उतरता रहता है। इस समय की बातचीत वास्तव में बेहद सरस और आह्लादकारिणी होती है। अकिञ्चन कृषक जिनकी दुनिया अत्यन्त विशाल होते हुए भी सीमित होती है अपने सुख-दुख को

भूलकर क्षण भर के लिए आनन्द में मग्न हो जाते हैं। यदि उनके बीच से हुक्के को पृथक् कर दिया जाय तो उनका जीवन ही सूना हो जायगा। घर में, खेत में, सभा में, स्वागत में, सुख में, दुख में और जीवन के प्रत्येक श्रम विश्राम वाले क्षण में यह तम्बाकू अपना आसन जमाए बैठा। न केवल पुरुषों में बल्कि स्त्रियों की दुनिया में भी इसका प्रभुत्व है। यहाँ तक कि मेले बाजार में भी यह उनसे पृथक् नहीं होता। जीवन संगी-सा साथ लगा रहता है।

कुछ अधिक दिनों से नहीं, लगभग डेढ़-दो वर्षों से ही यह नशीली, हानिकर और अप्राकृतिक वस्तु किसानों के जीवन केन्द्र में आकर कूद पड़ी है। किसान इसके वशीभूत हो गए हैं। इसके बिना वे जी नहीं सकते। देखने में यह साधारण वस्तु है। एवम् कम व्यय प्रतीत होता है। परन्तु समझदार लोगों ने बताया है कि आधुनिक युग में किसान के पतन के जितने कारण हैं उनमें एक प्रमुख कारण यह भी है। जिस प्रकार हुक्के से निकला धुँआ अन्तर्धान हो जाता है उसी प्रकार इसमें व्यय होने वाला पैसा तथा क्षीण होने वाला सार्वजनिक स्वास्थ्य दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रति वर्ष करोड़ों रुपया तथा आमूल स्वास्थ्य का स्तर इस हुक्के बीड़ी की आग में भस्म हो जाता है।

बहुतेरे किसान गप्प हाँकने में बड़े प्रवीण होते हैं। दिन भर तब कही में व्यस्त रह कर भोजनादि की भी सुध भूल जाते हैं। इस बेवकूफी से उनकी क्याक्षति होती है इसे वे नहीं जानते। असाढ़ के महीने में किसी घने बरगद की शीतल छाया के नीचे गाय-भैंस चराने वाले बैठे हैं। उनके चौपाए परती में घास चर रहे हैं। आस पास फसल के बच्चे आँख निकाल कर उठ रहे हैं। चरवाहों के बीच दो वस्तु चल रही है। एक तो गप्प और दूसरी सुर्ती। यह गप्प सुरती के सहयोग से इतनी रसीली और आकर्षक हो जाती है कि कोई चौपाया पास के खेत में पड़ कर सफाचट कर रहा परन्तु उधर ध्यान नहीं है। ध्यान जाते-जाते भी

कुछ सफाया हो जाता है। ऐसा मस्त, लापरवाह और बेफिक्र जीवन एक तरफ स्पृहणीय है तो दूसरी तरफ निन्दनीय भी है। नशे की मादकता उसके जीवन में घुल मिल कर उसे पूर्ण आलसी बना देती है। यह गुप्त की बैठक बाज़ी न केवल खेतों में बल्कि दरवाजे पर भी जमती है। यह बैठकी यदि रात के १२ बजे तक होती है तो कोई विशेष हानि नहीं परन्तु देखा जाता है कि सबेरे से लेकर कभी दो पहर तक या शाम तक होती रहती है। बीच में तम्बाकू, बड़ी अथवा सुर्ती का का अध्याय अविरल गति से चलता रहता है। सच तो यह है कि कितने ही चिलम चट्टू या मुफ्तखोर इसी लोभ से बैठकियोंको सूँघते रहते और मँडराया करते हैं। ऐसे ग्रामीण जो अपनी टेंट का पैसा इसमें खर्च नहीं करते एक तरफ अपना पैसा बचाते हैं तो दूसरी तरफ अपना अमूल्य समय बरबादी कर देते हैं। जीवन में कर्म की प्रधानता है, बेकारी की नहीं। सौन्दर्य कर्म में है, बेकार घूमने और आराम करने में नहीं। नशे के लिए अथवा थोड़ी अपनी आदतों की तुष्टि के लिए हाथ पसारते चलना इस द्वार से उस द्वार जाना, रंग-विरंगी बातों को ही अपना व्यवसाय बनाना तथा अपना इस प्रकार का अभिशप्त जीवन लिए समाज पर भार स्वरूप होकर जीना अत्यन्त लज्जास्पद है।

हुक्का स्वागत और खातिरदारी का एक प्रमुख साधन हो गया है। इसके बिना किसान कासम्मान अधूरा ही रह जाता है। अपनी बिरादरी में हुक्का न पाना घोर अपमान समझा जाता है रास्ता चलते किसी को ठहराया जाता है तो उस समय भी इसी का नाम सर्व प्रथम आता है। "चलिए हुक्का-पानी हो।" अतः हुक्का स्वागत का प्रथम अध्याय अथवा स्वर्ण-सोपान है। इधर अतिथि महोदय धुँआ घोंट रहे हैं उधर उनके घोंट हैं उधर उनके खाने-पीने की तैयारी हो ही है। पहले हुक्का तब पीछे पानी। कितने पुराने बुजुर्ग बाबा लोग इस बात को परले दर्जे की असभ्यता मानते हैं कि दरवाजे पर

जाते ही हुक्के को न पूछा। गाँव के लोग आपसी स्वागत-सत्कार का माध्यम भी इसे हुक्के को बना डाले हैं। दरवाजे पर आए तो सर्व प्रथाम हुक्का पिलाया और चलती बार ठोंक कर सुर्ती दिया। यह खातिरदारी है! प्रथम अध्याय में वर्णन कर चुके हैं कि देहाती लोगों का स्वागत सत्कार आज आज दम तोड़ रहा है। गरीबों के पास मिट्टी और सीरे सस्ते तम्बाकू के अतिरिक्त और क्या है जो स्वागत में पेश करें! यह हुक्का उनके आन्तरिक सद्भाव का प्रतीक है। भले ही यह विष है, क्या हुआ जो पीने वाले जहर पीते हैं तथा स्वास्थ्य के विचार से यह स्वागत का तरीका सदोष है परन्तु गाँववाले तो इसे अपनाए ही हैं। उनके भीतर प्रेम तथा आपसी व्यवहार की पवित्रता है तो वह हुक्के पानी में ही व्यक्त होतो है। किसी अतिथि की चिलम आने हाथ से चढ़ा गृहस्थ कृतकृत्य हो जाते हैं। चिलम ठंडी नहीं होने पाती। दम पर और हरदम चिलम पर चिलम चढ़ती रहती है। पीने वाले चारों ओर बैठे हैं। अतिथि पीता है। बढ़ाने पर दूसरे और तीसरे। यह क्रम चलता है। इस प्रकार सम्पूर्ण स्वागत के केन्द्र में यह है। शहरों में जैसे चाय चलती है वैसे ही गरीबों के गाँव में क्का-तम्बाकू। फर्क यह कि इसे पिलाने वाली दूकानें नहीं होतीं और न पैसा खर्च होता है। जहाँ चाहें पिलाने वाले हैं और मुफ्त में बड़े प्रेम से कृतज्ञता पूर्वक खिलाते हैं।

तम्बाकू गाँव के जीवन का एक अङ्ग हो गया है। बनियों की दूकान पर सबसे अधिक बिक्री इसी की होती है। एक कहावत कही जाती है कि सब रोजगार कर के बैठ गए और भाग्य ने साथ नहीं दिया तो एक बार तम्बाकू का रोजगार करके भाग्य की आजमाइश करो। अवश्य ही लाभ होगा। तारीफ़ यह है कि गाँव वाले जो तमाखू पीते हैं वह अत्यन्त ही निम्नकोटि का होता है। इसी लिए सस्ता भी खूब होता है। उसमें अपरिमित परिमाण में रेह छोड़ देते हैं। एक रुपए की लागत में मानों तम्बाकू तैयार हो जाता है। आश्चर्य है कि यह विकता

खूब है। पुरुष से अधिक स्त्रियाँ पीती हैं। यदि बाहर पुरुष वर्ग के लिए एक हुक्का है तो भीतर नारी समाज के लिए कई हुक्के हैं। सास का अलग, पतोहू का अलग और जेठानी आदि का आदि का अलग। सभी अपनी अपनी चिलम अलग-अलग भरते हैं। लड़के और लड़कियाँ लुक-छिपकर दम लगा लेती हैं। आखिर अपने परिवार में ही तो वे सीखती हैं? प्रायः देखा जाता है कि जिस परिवार में, पुरुष तथा स्त्रियों में हुक्के का प्रचार नहीं है उस परिवार के बालक तथा बालिकाओं में इस व्यसन की चोंच नहीं चुभती। कितने बड़े बाबू लोग मारेशान के अपना हुक्का किसी को नहीं देते। कितने साधु-प्रकृति के लोग दूसरे का हुक्का नहीं पीते। हिन्दू लोग मुसलमान भाइयों की खिल्ली उड़ाते हैं कि वे एक ही बधने से बिना माँजे अथवा मिट्टी लगाए सभी पानी पीते हैं! यहाँ तक तो खैरियत है। बधना दिन में कई बार मला जाता है परन्तु यहाँ हुक्का महाराज तो महीनों योंही चला करते हैं। उनकी सफाई नहीं होती। पानी भी सप्ताहों तक नहीं बदला जाता। जब सड़ जाता है तब विवश होकर बदलते हैं या कहीं भूल से लुढ़ककर गिर गया तब फेरते हैं, देखते हैं कि कई मन कीट और कह बैठी हुई है। दुर्गन्ध निकलती रहती है। सरासर मुँह के जूठ पर दूसरा मुँह जुट जाता है। अभी पहले मुँह का पानी सूखा रहता है कि दूसरे जम जाते हैं। कभी-कभी एकादशी व्रत रहने वालों की इस पर कृपा हो जाती है और काया कल्प हो जाता है। चारपाई के उस भाग में यह सहारा देकर प्रायः खड़ा कर दिया जाता है कि कभी-कभी एकान्त देखकर कुत्ते उसी जगह पेशाब करते हैं। उन्हें क्या पता कि यहाँ निर्जीव दिखाई पड़ने वाले काठ में कोई सजीव व्यक्तित्व पड़ा है! इस हुक्के के सार्वजनिक जीवन के अंगीभूत होने का इससे बड़ा और क्या प्रमाण है कि यह सोलह आना तथा पन्द्रह आना और कभी-कभी 'लम्बा' भी हो जाता है।

किसी कारणवश जब गाँवों में कोई जाति बहिष्कृत की जाती है तो उसका हुक्का-पानी कोई नहीं पीता। उसकी बिरादरी वाले उससे भोज-भात नहीं रखते। उसके बेटे-बेटियों की शादी में कठिनाई उपस्थित होती है। कोई भला आदमी उससे अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। इसी को सोलह आने से हुक्के का पन्द्रह आना हो जाना अथवा 'लम्बा' हो जाना कहते हैं। कुजात से जाति बनाने यानी उसके हुक्के को पन्द्रह आने से पुनः सोलह आना बनाने वाला दण्ड भी बड़ा विचित्र होता है। कभी पंच-परमेश्वर के सामने मुर्गा बनकर नाक से 'राम' शब्द लिख देना पर्याप्त समझा जाता है। कभी कच्ची-पक्की का विधान होता है। कच्ची का अर्थ भात वाला भोज और पक्की का अर्थ होता है पूड़ी वाला भोज। कभी ब्राह्मण खिलाने, कभी देवता विशेष का अनुष्ठान करने और कभी नकद रुपया दण्ड स्वरूप से जमा करने पर हुक्का पन्द्रह आने से ऊपर बढ़ता है यह गाँव का शासन है, जो ताजी रात हिन्द से उतना नहीं होता जितना हुक्के पानी पर। इसे कुजात हो जाने के डर से लोग बुराई करते डरते हैं। किसी गरीब का अपमान करने में भयभीत होते हैं। नीच कर्म करते काँप जाते हैं। गो-ब्राह्मण से बचकर रहते हैं तथा अपने नीची जातियों से अनुचित सम्बन्ध स्थापित करते पैर काँपने लगता है। आज यह हुक्के पानी वाला शासन ढीला होता चला जा रहा है। लोग अपने मन के हो गए हैं। जाति-पाँति की कड़ियाँ टूटती जा रही हैं। अनुशासन भी नहीं रहा। हुक्के पानी का दबाव जाता रहा। पढ़ने-लिखने वाले लोग और भी दुर्विनीत होने लगे। अपढ़-गँवार और देहाती कहे जाने वाले लोगों में अब भी हुक्के पानी का शासन है। तेली आदि कई जातियों में तो पूर्ण रूप से है।

हुक्के के उच्चासन पर आज बीड़ी-सिगरेट ने हमला बोल दिया है। वह शनैः शनैः स्वागताध्यक्ष पद से च्युत होता चला जा रहा है।

लोग संक्षिप्तता चाहते हैं। तीन गज का दुपट्टा कौन लिए फिरे ! गज भर के गमछे से काम चल जायगा। वैसे ही तूल तवाल तम्बाकू-हुक्के को छोड़ कर बीड़ियों का सहारा लोग ले रहे हैं। यह धूम्र-दण्डिका पाकिट में पड़ी रहती है। एक-दो नहीं, सैकड़ों की संख्या में भी। जहाँ आवश्यकता समझी गई, दियासलाई से जला कर धूम्रपान प्रारंभ ! मतलब है धुँआ पीने से चाहे उसे चिलम पर पिएँ, चाहे हुक्के पर चिलम रख कर खींचे और चाहे बीड़ी के रूप में। हुक्के में परिश्रम है। दूसरी बात यह कि रास्ते में, यात्रा में अथवा परदेश में उसका रसास्वादन आसानी से नहीं होता। उसके उपकरण भी आसान नहीं। ऐसा नहीं कि सभी बगल में दबाए चलें। इसी से बीड़ी का प्रचार जोर पकड़ता जा रहा है। गाँवों में इसकी लीला देखते ही बनता है। आबाल वृद्ध बनिता सब इसी रंग में रंगे हुए हैं। कुछ आवश्यकता-वश नहीं, शौक वश अथवा देखा-देखी यह विषपान होता है। छोटे-छोटे बच्चे जिन्हें बोलने का भी शऊर नहीं है, बीड़ी पीते देखे जाते हैं। वे बड़ों को पीते देखते हैं और उन्हीं की नकल करते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा है। बड़ों के दिखाए रास्ते पर चलते हैं। बच्चों के सामने खुले रूप में हुक्के, बीड़ी और सिगरेट का शौक लोग करते हैं। देख-देख कर उनके कोमल और अनुकरणशील मस्तिष्क में अवश्य ही जिज्ञासा पैदा होती होगी तथा एक बार इस दुर्लभ क्रिया को करने के लिए वे लालायित हो उठते होंगे। माता-पिता और बड़े लोग उन्हें डाँटते हैं। कहते हैं, बीड़ी नहीं पीनी चाहिए। हुक्का मत छुओ। यह सब आदत ठीक नहीं। एक तरफ उन्हें मना करते हैं दूसरी तरफ उन्हीं के सामने स्वयं बड़े आनन्द पूर्वक पी रहे हैं एक तो नकारात्मक निर्देश ही खतरनाक होता है दूसरे उदाहरण जब आँखों के सामने मौजूद है तो उसकी छाप कौन रोक सकता है ! बच्चा सोचता है कि यह उसके छोटे होने की सजा है। यदि वह भी औरों की भाँति बड़ा

होता तो कोई मना नहीं करता। बड़े लोग निर्भय पीते हैं। उन्हें कोई नहीं डाँटता। इसके पश्चात् वह बालक छिप-छिपकर पीता है और बड़े होने की प्रतीक्षा करता है।

बालकों के हृदय में बड़े लोगों के प्रति एक प्रकार का डाह पैदा हो जाता है। जिस चीज को वे लोग बड़े आनन्द पूर्वक पीते हैं उसे वह जब पीने चलता है तो लोग बुरा भला कहते हैं। हानि बताकर भयभीत करते हैं। घर में वह यही देखता है। बाहर वह यही देखता है। स्कूल में भी यही देखता है। यदि किसी लड़के के पास एक बीड़ी मिल गई तो अध्यापक महोदय पाजामे से बाहर हो जाते हैं तथा छात्र पर बड़ी मार पड़ती है। जैसे उसने कितना बड़ा अपराध कर दिया। विपरीत इसके उन्हीं गुरुजी के पास बीड़ियों का बण्डल पड़ा रहता है। छात्रों के सामने ही निर्लज्जता पूर्वक धुँआ उड़ाते रहते हैं। ठाट से कुर्सी पर बैठ कर धुएँ का बादल मुँह से छोड़ते हैं तब भी बालक उन्हें देखते हैं। ऐसी मनोरंजक और मनोहर क्रिया बालक जब अपने गुरु जी को करते देखते हैं तो स्वाभाविक ही उनके मन में उसे सीखने और करने की प्रबल प्रेरणा होती है। उन्हें क्या पता कि यह विष है। वे इसे अमृत ही समझते हैं। भला यदि यह जहर होता तो हमारे गुरु जी क्यों पीते हैं। हाँ, डण्डे के डर से वे नजर बचाकर पीते हैं।

बुराई छिप कर ही होती है तथा छोटों को बड़े लोग ही सिखाते हैं। यदि बालकों के प्रारंभिक जीवन में इन सब बुराइयों के प्रत्यक्ष दर्शन न हों, यदि उनके चारों ओर इनके सेवन से रहित समाज हो तो वे पवित्र निकलेंगे। वे समाज से ही बुराइयों को सीखते हैं। इसे कोरी शिक्षा द्वारा रोकना असम्भव है। बालक पहले तो कुतूहलवश अपनाते हैं। धीरे-धीरे आदत पड़ जाने पर वह बुराई जीवन का एक अंग हो जाती है। वे भी अपने तक सीमित नहीं रखते। बल्कि दूसरों को बाँटते हैं। इसी प्रकार बीड़ी ने हमारे गाँवों की दुनिया में प्रसार पा लिया है।

रोकने पर, मना करने पर, प्रतिक्रिया में बुराई और जोर पकड़ती है। प्रत्यक्ष के लिए पथ नहीं होता तो छिपे-छिपे वह अपना रास्ता बनाती है। समाज के शत्रु तत्व को यही पहचान है। बालकों को प्रत्यक्ष बीड़ी नहीं पीने दिया जाता तो वे छिप कर पीते हैं। यहीं से चोरी और झूठ दो बुराइयाँ जन्म लेती हैं। बड़ी की प्राप्ति के लिए वे चोरी करते हैं तथा उसे छिपाने के लिए झूठ बोलते हैं। जहाँ एक बुराई की जड़ जमी कि उसकी शाख-प्रशाखा फूटने लगी। आज दिन गाँव के बालकों में ७५ प्रतिशत बालक ऐसे हैं। जो बीड़ी के पक्के पियक्कड़ हैं। वे तिकड़म से घर का अनाज और पैसे बनिए के घर पहुँचा देते हैं।

एक दिन मध्यावकाश में एक छात्र को अनाज की एक छोटी सी गठरी लिए बनिए की दूकान पर जाते देखा। पूछा तो बताया कि घर माँ ने दिया है कि दूकान से कुछ खरीद कर दोपहर में खा लेना। बाद में पता लगा कि वह रोज उस अन्न से बीड़ी खरीदता है। स्कूल में छिप कर तथा साथियों के साथ रास्ते में खूब पीता है। उसके इस व्यापार से मैं स्तब्ध रह गया। माँ ने कितने प्यार से वह अनाज दिया होगा। उसका लक्ष्य होगा कि बेटा भूख से कष्ट न पावे। कुछ पी-खा ले कि उसका स्वास्थ्य ठीक रहे। इधर लाड़ले ने उसके प्यार का कैसा दुरुपयोग किया माँ से, हम से और सारी दुनिया से झूठ बोला। सबको धोखा दिया। अपने अमूल्य स्वास्थ्य के साथ खेलवाड़ किया। यह सब हुआ देखा-देखी, सीखी गई एक तुच्छ आदत के लिए और साथियों में शाबाशी लूटने के लिए।

गाँव के एक लड़के की प्रशंसा सुनी। खूब दौड़ता है आधी रात को भी पेड़ पर चढ़कर आम तोड़ लाता है। नदी-नाले को पनाला समझता है। साँप-बिच्छू से खेलता है। बिगड़ैल जानवरों को विशेष कर बैलों को पानी कर देता है और आसमान से तारे तोड़ लाने की भी

हिम्मत रखता है। आदि आदि। अन्त में यह भी सुना कि खाता कम है पर बीड़ी अत्यधिक पीता है। एक सौ बीड़ियाँ प्रति दिन मिले तो मौज में रहता है। कीसी बारात में पच्चीस बीड़ियों का बण्डल एकबार में जला कर पी गया। बात यह हुई कि एक साहब ने एक साथ चार बीड़ियाँ सुलगा कर उसे खार दिला दिया। लोग दाँतों तले उँगली दाब लिए। उसे देखा मैंने। साक्षात् कंकाल! आँखें पीली, धँसी तथा जीवन हीन। मुँह पिचका हुआ दांतों में नौ मन मैला! हाथ-पैर सिरकण्डी और शरीर का विकास पूर्णतया अवरुद्ध। सोचा मैंने, अब यह थोड़े ही दिनों का मेहमान है। समाज के एक बहुत ही फुर्तीले और तेज सदस्य का खून बीड़ी ने जला डाला।

हाय रे बीड़ी! एक तो बेचारे ग्रामीणों को जो अत्यन्त ही गरीब हैं भरपेट खाना नसीब नहीं होता! दूसरे तूने अपना सत्यानाशी आसन भी वहीं जमा दिया। छोटे-छोटे बालक जो ठीक-ठीक तरीके से लालन-पालन न किए जाने के कारण गरीबी के झोंके से पिचक कर छुहारे की तरह हो जाते हैं; तेरी कृपा से और भी म्रियमाण हो जाते हैं। ग्रामीण कहते नहीं थकते कि इस बीड़ी से पैदा हुए रोग की कोई दवा नहीं। तपेदिक, खाँसी, कमजोर, दमा और कब्ज इसी से होता है पहलवान कहे जाने वाले बीड़ी बाज अखाढ़े में पड़ते ही हाँफने लगते हैं। बिपरीत इसके बीड़ी के वश में हुए जैसे इस नागिन को गले का बनाए रखते हैं। इससे मुक्ति भी तब तक नहीं मिलती जब तक प्राण नहीं छूट जाता है। आज का बीड़ी पीने वाला कदाचित् ही पूरी उम्र जीता है और आज का कदाचित् ही गरीब ग्रामीण होगा जो बीड़ी न न पीता हो।

जो लोग बीड़ी आदि पीते हैं बहुत ही विश्वास पूर्वक यह तर्क उपस्थित करते हैं कि गृहस्थ के लिए, काम करने वालों के लिए किसी न किसी नशे का सेवन करना अत्यावश्यक है। इससे काम करने में

सहायता मिलती है। परन्तु वे भूल जाते हैं कि काम में सहायता पहुँचाने की अनिवार्य शर्त वश नहीं बल्कि इसे उन्होंने शुद्ध देखा-देखी में सीखा है। इस जहर से भला काम में कौन सी सहायता मिल सकती है? काम की थकान में इसका सेवन तो और भी खतरनाक होता है। कामकाजी परिश्रम के काम के बीच-बीच में बीड़ी पीते देखे जाते हैं। सच तो यह है कि यह एक तुच्छ आदत है तथा पूरी होती है तो एक तुष्टि मिलती है। इसके पूर्व आदत बेचैन रखती है तथा थकान मालूम होती है। बाद में आदत के तुष्टि-जन्य मिथ्या सन्तोष से एक प्रकार का विराम जैसा लगता है। इसे ही थकान का मिट जाना कहा जाता है। यह वैसा ही है जैसे शराब पिलाकर घोड़े को तेज चलने की उत्तेजना देना, जब कि खूराक के अभाव में वह दुर्बल है।

प्रत्येक बीड़ी पीने वाला अपने कलेजे पर हाथ रखकर सोचे, क्या वास्तव में थकावट के पश्चात् बीड़ी पीकर उसे शान्ति मिलती है? उसका मस्तिष्क हलका हो जाता है? कदापि नहीं। यही दशा सुर्ती की भी है। इसमें तो पागलपन तक का प्रभाव होता है। खाने के बाद एक तीखी झनझनाहट मस्तिष्क में होती है। आदतवश उसी के लिए लोग बेचैन रहते हैं। कुछ पढ़े-लिखे लोगों की देखा-देखी बीड़ी के साथ सिगरेट का भी प्रचार बढ़ता जा रहा है। कितने इसके शौकीन ग्रामीणों के मुँह से सुना गया कि इसके पीने में कम हानि होती है। बीड़ी की आदत छुड़ाने के लिए कुछ लोग सिगरेट पीने की सलाह देते हैं। होता यह है कि उसकी आदत तो छूटती नहीं और सिगरेट का भी चस्का लग जाता है। इन आदतों की बुराई प्रत्यक्ष है। प्रत्येक पीने वाला इसकी निन्दा करता है। कितने लोग तो तंग आकर मन्दिरों में जाकर शपथ खाते हैं, नाना प्रकार के उद्योग करते हैं पर आदत के आगे हार जाते हैं।

गाँवों में बीड़ी-सिगरेट का ऐसा प्रचार हो गया कि शिरनी-सौगात

के रूप में बीड़ी जाने लगी है। ससुराल जाते समय लड़कियों को जो-जो सामान बिदाई में दिए जाते हैं, उनमें आज बीड़ी भी एक आवश्यक सामान हो गई है। कितने माता-पिता बक्स भर-भर कर बीड़ी सलाई भेजते हैं। बीड़ी द्वारा कितने काण्ड हो जाते हैं। डोली में नव-बधुओं द्वारा बीड़ी पीकर आग लगा देने की घटनाएँ भी सामने आने लगीं। घरों में चोरी और झूठ की कितनी ही घटनाएँ हो जाती हैं। खलिहान प्रति वर्ष इसकी आग में स्वाहा हो जाते हैं। गाँवों में जो अग्नि काण्ड होते हैं उनमें आधे से अधिक हुक्के बीड़ी के असावधानी से प्रयोग करने के कारण होते हैं। जैसे इसने जीवन के प्रत्येक चौराहे पर प्राणघातक जाल लगा दिया है।

कभी ग्रामीण अपने सुन्दर स्वास्थ्य के लिए प्रशंसनीय थे। आज बीड़ी की कृपा से जिसे देखो वही अजीर्ण और पेचिस का रोगी बना है। इन नशीली वस्तुओं को न छूने वाले पुराने लोग अभी भी हैं जो युवकों का पंजा पकड़ लें तो छूटना असम्भव हो जाय। आज का बीड़ी पीने वाला सदा खाना ठीक से न पचने की शिकायत करता है। वह डाक्टर तथा वैद्यों के यहाँ पाचक बुकनी के लिए पहुँचा ही रहता है। पेट का रोगी, थोड़े श्रम से थक कर हाँफने वाला, कठिनाई आते ही घबराने वाला और चित्त का चंचल ग्रामीण यदि दिखाई पड़े तो समझना चाहिए कि यह हुक्के बीड़ी और सुर्ती का मजनू है। किसी डाक्टर की दूकान पर एक घण्टा बैठ जायें, देखें कितने ग्रामीण दवा के लिए आते हैं और पूछें कि इनमें कितने लोग क्या-क्या नशा खाते तथा पीते हैं? आखिर वह जहर पेट में जाकर यों ही समाप्त नहीं हो जायगा। बीड़ी और हुक्का पीने वाले जानते हैं कि उसके मुँह पर कपड़ा लगाकर एक बार भी खींचने पर वह कपड़ा पीला हो जाता है तथा प्रत्यक्ष ही जहर जमा हुआ दिखाई पड़ता है। वह एक दम, एक बार का जहर होता है। जहाँ सैकड़ों दम नित्य लगते

हैं वहाँ तो ईश्वर ही खैर करे ! उनके लिए यही अचरज है कि वे जीते हैं।

लोग कहते हैं कि ग्रामीणों के स्वास्थ्य का स्तर गिर रहा है। उनका शारीरिक विकास यथेष्ट नहीं होता। वे पहले जैसे हट्ठे-कट्ठे और मस्त न रहे। आखिर वे ऐसे दीन-दुर्बल न हों तो क्या हों ? बचपन में ही जहर पीने और अमृत उगलने की सर्वनाशी आदतें लग जाती हैं और शरीर को खोखला कर देती हैं। गोस्वामी जी ने शव की भाँति जीवित रहने वाले १४ प्रकार के प्राणियों को गिनाया है। ये चौदहों इन नशेबाजों में मिल जाते हैं। कुछ एक दो नहीं। सारा समाज ही भ्रष्ट और जर्जर है। सभी एक दूसरे को देखकर सन्तोष करते हैं। उनकी इस पतनशील जीवन पद्धति को कोई सार्वजनिक राष्ट्रीय व्यवस्था ही उबार सकती है।

लेखक को व्यक्तिगत रूप से इस बात का अनुभव है कि लोग बीड़ी-सिगरेट या हुक्का-सुर्ती आवश्यकतावश नहीं अपितु संगतिवश खाते-पीते हैं। जो इनका सेवन करते हैं, तनिक भी बिछोह असह्य हो जाता है। जो नहीं खाते-पीते उनके ध्यान में भी ये नशे नहीं आते। जिस ने पहले इनका आनन्द खूब डटकर कर लिया है और जी भरकर इन्हें उड़ाया है, यदि किसी कारणवश छोड़ देता है तो बाद में उसे इनकी ओर ताकते भी नहीं बनता है। स्वप्न में भी इनका ध्यान नहीं आता। जिस बीड़ी के धुँए को स्टीमर की चिमनी जैसे छोड़ने में, मुँह से उगलने में महान हर्ष होता रहा वही असह्य हो उठती है। इससे सिद्ध है कि यह अनावश्यक वस्तु है।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि नशे का सेवन जब रोगी बना देता है तो लोग दवा भी खाते हैं और नशा भी। रोग अच्छा हो तो कैसे ? अधिक नशे का सेवन करने वालों की नस-नस में ऐसा जहर भर जाता है कि दवा भी कम असर कर पाती हैं। आज कल

रोगों पर दवाओं का असर कम हो भी गया है। रोग अच्छा भी होता है तो शरीर उखाड़ कर। बचपन से ही बीड़ी आदि पीने वाला बालक कालान्तर में पेट का भयंकर रोगी हो जाता है। मेरा अत्यन्त निकट सम्बन्धी एक युवक जो नित्य एक छटाँक सुर्ती, १४ सिगरेट, दो तीन दर्जन बीड़ियाँ और मिल गया तो तम्बाकू का भी सेवन करता रहा। उसका स्वास्थ्य बहुत ही दयनीय था। पेट साफ करने के सैकड़ों नुस्खे अपने अपने ऊपर आजमाते-आजमाते उसे याद हो गए थे। नशे का सेवन भी पेट साफ करने के उद्देश्य से करता था। रोग का कारण रोग-शमन में योजित करता था। होना ठीक इसके विपरीत अनिवार्य था। अन्त में खीझकर बड़े साहस से उसने एक ही दिन सबका बहिष्कार कर दिया। एक मास तक बीमार रहा। धीरे-धीरे स्वास्थ्य सुधारने लगा। आज सुर्ती की बलि वेदी पर अपने प्रथम श्रेणी की दो दंतमुक्ता अर्पित करने के पश्चात् वह पूर्ण स्वस्थ है, पेट की शिकायत जाती रही। वास्तव में बीड़ी और सुर्ती पेट के लिए हलाहल ही है।

एक तरफ गाँव वाले चाहते हैं कि उनके बच्चे बीड़ी-हुक्का आदि न पीवें और दूसरी तरफ वे ही उन्हें सिखाते हैं। छोटे बालक तो चिलम चढ़ाने के लिए ही जैसे होते हैं। बड़े प्रेम से किसान अपने बालकों को आज्ञा देते हैं कि बच्चा! जरा चिलम चढ़ा लाओ। कभी-कभी वे उसे सुलगा देने की भी आज्ञा देते हैं। सुलगाना अर्थात् प्रारंभिक दशा में पीना। यह सब क्या है? सिखाना और कहते किसे हैं? हमारे एक मास्टर साहब थे, बड़े योग्य और चरित्रवान। पढ़ाने में वे बड़े निपुण थे। साल भर जीन की एक मोटी सफेद कोट पहन कर अपने ३ मील दूर गाँव से मदरसे आते थे। आते ही कोट को खूँटी पर टाँगकर जंगलिया, जंगलिया की आवाज लगाते थे। यह मेरा एक सहपाठी था। आवाज देने का मतलब था कि चिलम चढ़ा लाओ। मेरी ड्यूटी थी ताजा पानी कर देने की। इस प्रकार मास्टर साहब स्कूल पर आते

ही सर्वप्रथम एक चिलम तमाखू पीते थे। कुर्सी पर पसरकर बड़ी शान्तिपूर्वक वे कबूतर की भांति गुड़गुड़ी गुड़गुड़ाते थे। उनका पाना, धुँआ फेंकना और बीच-बीच में बातें करना आज भी उनके शिष्य भूल नहीं सके हैं। वे यह भी कहा करते थे कि यह हुक्का मैं तीस वर्षों से पी रहा हूँ। इसीलिए मैं बीमार नहीं पड़ता। जैसे जो हुक्का नहीं पीता वह बराबर बीमार ही रहता है! एक बार उन्होंने बताया कि मैं दो जगह का पानी पीता हूँ अतएव मेरे लिए हुक्का पीना आवश्यक है। इससे पानी नहीं लगता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सब बातों का प्रभाव कितना स्थायी और प्रबल रहा! जब चार देहाती भाई बैठते हैं तो एक कहावत कही जाती है:—

मोटी दतुअन जो करे, नित उठ हर्रे खाय।
एक चिलम गाँजा पिए, ता घर वैद न जाय॥

साधारण आदमी सहज ही अनुमान लगाते हैं कि अवश्य ही मोटी दातून और हर्रे जैसी कोई अत्यन्त ही लाभदायक वस्तु यह गाँजा है। फिर एक चिलम की शर्त क्यों? जब एक ही चिलम का प्रभाव है कि वैद्य घर पर आयेगा ही नहीं तो फिर हो जाय खुली छूट, कि पी-पीकर मानवता नीरोग हो जाय। इस प्रकार की कहावतों द्वारा भोले-भाले ग्रामीणों के पथ में कांटे बोए जाते हैं।

बचपन की पड़ी आदतें जीवन भर नहीं छूटतीं। वे गले पड़ जाती हैं। यह आयु ऐसी लचीली होती है कि इसमें जो भी अभ्यास चल पड़ा वह जीवन के रास्ते पर गहरी लकीर बना देता है। आज गाँवों में नशे का जो इतना प्रसार देखते हैं, इसका मुख्य कारण वहाँ की परिस्थिति ही है। चारों ओर, जीवन के प्रत्येक क्षण में सुर्ती-तम्बाकू का साम्राज्य है। इसके प्रभाव से अछूता रहना टेढ़ी खीर है। जब मैं दस वर्ष का था तो एक पंडित जी ने बताया कि यह सुर्ती शंकर की बूटी है। १०८ चुटकी मलकर इसे खाना चाहिए। इससे काम में जी लगता

है। यह मोइतनी ददायी है कि बनाते-बनाते मीलों चलें जायँ रास्ता नहीं मालूम होगा। इसे कभी-कभी भूत-प्रेत भी माँग बैठते हैं। न देने पर खतरा कर देते हैं। एकान्त में जब बनाना चाहिए तो वहाँ के जाने-अनजाने जीवों के लिए कुछ थोड़ी सुर्ती जमीन पर डालकर तब ग्रहण करना चाहिए।

सुर्ती और भूत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ भी भूत की चर्चा होती है सुर्ती वाली बात अवश्य कही जाती है। कहाँ वाले भूत ने किससे सुर्ती माँगी, किसने दे दिया, किस भूत को किसने सुर्ती देने से इन्कार कर दिया, इसका परिणाम क्या हुआ आदि आदि बातें बड़े मनोयोग से कही तथा सुनी जाती हैं।

पंडित जी ने न केवल मौखिक रूप से सुर्ती की महत्ता बताई अपितु बनाने की विधिवत् क्रियाएँ प्रयोगात्मक रूप से उन्होंने समझाई। किस प्रकार उसे छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित करना चाहिए, कितना चूना देना चाहिए। कितनी बार मलना चाहिए, कितनी बार ठोकना चाहिए तथा गर्दा बाहर निकालने की विधि क्या है। जब मैं उनके पास जाता सुर्ती बनानी पड़ती। यहाँ तक कि जब मैं उन्हें देखता सुर्ती बनाने की इच्छा प्रबल हो उठती और माँग कर बनाता तथा पंडित जी को खिलाता। उनके पास सुर्ती न होती तो दूसरे से माँग कर बनाता और इसमें मुझे मजा आता था। कल्पना भी नहीं थी कि मैं भी सुर्ती खाऊँ। एक दिन पंडित जी ने इसके स्वाद के लिए सलाह दी। आजमाइश के तौर पर एक दिन थोड़ी सुर्ती ओठ के नीचे रखी। सिर भनभना उठा। चक्कर आने लगा। थूकते थूकते फजीहत हो गई। उस दिन खाना नहीं खाया। दाँतों के पास एक अजीब किस्म की कुटकुटाहट पैदा हो गई। सोचा, यह जहर लोग क्यों खाते हैं। सच तो यह था कि इस जहर के प्रति अन्तरमन में एक अपनाव पैदा हो गया था। बाहर का मन इसका विरोध कर रहा था। तीसरे दिन पंडित जी

को सुर्ती बनाकर दिया तो पुनः वही सिर चक्कर और दाँतों के नीचे की कुटकुटाहट वाला स्वाद याद आ गया। स्वाद स्वाद ही है। चाहे वह मीठा हो चाहे कड़ुआ। तब तक पंडित जी ने एक दोहा सुनाया:—

"सुर्ती बड़ी सुकृती कि चून मलै जो खाय,
झोंक देय बैकुण्ठ में या में संशय नाय।"

फिर क्या था ? उस तीखे स्वाद की पुनः आवृति हुई। पुनरावृत्तियों ने तो उसे पूरी तरह 'पंडित जी की परसादी' बना दी। अब मैं किसी 'सुर्तवाला' का आलोचक नहीं रह गया। पाँच-वर्षों के बाद इसके कुपरिणामों ने जौहर प्रकट किया तो माथा ठनका। तब तक यह भोजन से भी अनिवार्य वस्तु बन बैठी थी। इससे पिण्ड छुड़ाने में लोहे के चने चबाने पड़े। मुझे ज्ञात हुआ कि और सुर्ती खाने वालों की भाँति मैं भी गन्दगी का औतार हो गया हूँ। जगह-जगह थूकने में तनिक भी संकोच नहीं हो रहा है। सभा सोसाइटियों के अतिरिक्त परीक्षा भवन में भी ऐसी निन्दनीय ढिठाई की। सुर्ती से आन्तरिक घृणा हो गई। कई को देखा कि बिस्तर के नीचे और रसोई घर तक को गन्दा कर देते हैं। जहाँ कहीं दस आदमियों के बीच बैठते हैं सर्व प्रथम थूकने का स्थान खोजने लगते हैं। ट्रेन में, देवालय में, विद्यालय में और सार्वजनिक स्थानों पर सर्वत्र इस शर्मनाक आदत के सार्टीफिकेट पड़े मिलते हैं। प्रत्येक खाने वाले का ध्यान इन सब बातों पर कम जाता है।

एक कहावत है कि एक ही प्याले से बचो। किसी दिन मित्रों की देखा-देखी, किसी से पीते समय लेकर एक अधजली बीड़ी मुँह में डाली। किसी दिन कुतूहलवश, औरों को खाते देखकर सुरती के कुछ कण मुँह में रखे। किसी दिन गुड़गुड़ाने की इच्छा से हुक्के के छेद पर मुँह लगाया। किसी दिन गाँजे की चिलम पकड़ कर एक ही दम लगाया। ये बुराई की ओर उठानेवाले वे प्रथम चरण हैं और शनैः

शनैः तीव्रतर होते जाते हैं। स्वाद का अन्त कहाँ? और, और की चाह बनी रहती है।

प्रत्येक हुक्का पीने वाला प्रायः बीड़ी पीता है। धुएँ वाले नशे की जाति का होने के कारण कभी-कभी ये लोग गाँजे का भी दम लगा लेते हैं। ऐसे लोगों का कहना है कि "हम गाँजे के वश में नहीं हैं। मिल गया तो दम मार लिया नहीं तो कोई इच्छा नहीं रहता।' ऐसे ही लोग पूरे नशेबाज हो जाते हैं। जहाँ वे दूसरों के टेंट से पीते थे वहाँ अब अपना खर्च करने लगते हैं। कभी-कभी लोग एक नशे से घबरा कर दूसरा ग्रहण कर लेते हैं। कोई अत्यधिक बीड़ी का सेवन करता है तथा उसकी हानियों से घबरा गया है। वह बीड़ी छोड़ने के लिए सुर्ती का सेवन यदि प्रारम्भ कर देता है तो वही मसल होती है कि आसमान से गिरा तो खजूर पर अँटका। गाँजा छोड़कर, बीड़ी और बीड़ी छोड़कर हुक्का पीते हैं। पर वास्तव में जैसा कि कह चुके हैं छूटता कुछ भी नहीं है। जो सब छोड़ता है वह पान खाने लगता है। पान में भी चटकीला जर्दा! यानी घूम फिर कर वही तम्बाकू सेवन होता है।

कहते हैं कि बिना किसी नशे के वशीभूत हुए जीवन ठीक से कटता नहीं है। एक न एक का गुलाम रहना चाहिए। अब हुक्का, सुर्ती और बीड़ी से अलबेली छविवान और शक्तिमान और कौन सी वस्तु होगी जिसकी गुलामी की जा सके? कहाँ की यह हीन मनोवृत्ति आ घुसी! इस स्वाधीनता के युग में ग्रामीणों को अपनी वास्तविक पराधीनता से मोर्चा लेना तो अभी शेष ही है!

गांव के गरीब गँजेड़ी गांजे को बादशाही कहते हैं। पीते ही सारा दुख भूल जाता है। बेहद आनन्द आता है। उतना ही आनन्द आता है जितना घोड़े की सवारी करने पर। गरीब बादशाहत के सुख की कल्पना, घोड़े की सवारी की कल्पना गांजा पीकर करते हैं, कहते हैं, हाथ में चिलम आते ही रिकेब पर पैर हो जाता है। घोड़े की जीन

के नीचे जो पैर रखनेकी जगह होती है उसे रिकेब कहते हैं। जब एक दम लगा लेते हैं तो घोड़ा चलने लगता है। दूसरे तीसरे दम में तो वह खुली सड़क पर सरपट दौड़ने लगता है। वह अबाध गति से दौड़ता है। उसकी बागडोर पकड़ने वाला संसार में पैदा ही नहीं हुआ। यह है गांजा का प्रसाद। यदि दुनिया में कोई काम न रहे, यदि पेट में भूख नामक किसी वस्तु का अस्तित्त्व न हो तब गाँजा महान सुख दायक हैं। मनका घोड़ा खूब दौड़ेगा। ख्याली बादशाहत खूब फबेगी। मस्ती का रंगीन आलम मँडराया करेगा एवम् कल्पना की फुलझड़ियाँ छूटा करेंगी। पर कठिनाई तो यह है कि ऐसा असम्भव है। संसार में मनुष्य केवल चाँद-सितारों से खेलने के लिए पैदा नहीं हुआ। न वह बेहोशी में डूबा रह कर कुछ स्वार्थ या परमार्थ सिद्ध ही कर सकता है। अपनी स्थिति की रक्षा के लिए अनवरत संघर्ष करना पड़ता है। यह जीवन है। जीवन को युद्ध भी कहा गया है। यह अन्त हीन युद्ध है। इसमें न हार है न जीत है बस युद्ध ही युद्ध है और तब तक है जब तक जीवन का यह फटा पुरान चोला बादल नहीं जाता। ऐसे जीवन में बेहोशी, पागलपन और मगरूर मस्ती के लिए कहाँ स्थान है ! यह तो बेहयाई की हद है जो जीवन संग्राम से भाग कर, उत्पादन तक तथाकाम से मुँह मोड़कर हम रिकेब पर पैर रख कर पलायन की अभिलाषा रखें।

गाँव का ही जमींदार कोई ऐसा लक्ष्मीपात्र हुआ कि बरसात के निकल जाने पर उसके रुपये वाले तोड़े खुलते थे और तौल-तौल कर रुपया धूप में सुखाया जाता था। नौकर चाकर जितना घात लगा उड़ा कर ढो ले गए। रखते समय जब तौल होती और तौल में अन्तर पड़ता तो जवाब देते कि हुजूर 'सुखवन' चला गया। जैसे रुपया भी कोई गीली वस्तु हो और सूख जाने के कारण वजन में कम हो गई। ऐसे जमींदार के घर कोई गाँजा पीने वाला सुपुत्र पैदा हो गया। उसने

देखते देखते सारी सम्पत्ति चिलम के मुँह पर रखकर राख बना दिया। जब ऐसे ऐसे की यह दशा तो ऐरे-ग़ैरे का क्या गिनती। इसी लिए कहते हैं कि गाँजा या तो राजा पीए या फकीरा। एक तरफ यह कहना और दूसरी तरक गाँजा पीना सिद्ध करता है कि किसान यदि राजा नहीं तो फकीर अवश्य हैं। फिर फकीरी में गाँजा अमीरी का सुख देता है। बस एक ही साधे सब सधे!

एक तरफ जोंक बनकर चिलम खून चूसती है, नागिन बनकर डसती रहती है तथा साक्षात् दरिद्रता की प्रति भूर्ति बन कर उनके माल खजाने परे अपनी मुहर लगाती रहती है। दूसरी तरफ अपनी बेहोशी में किसान इतने गाफिल हैं कि समझ नहीं पाते। अपनी मिथ्या-मारक मस्ती में इतने डूबे हैं कि कुछ नहीं सूझता। जब कभी नशे का परदा हटता है, जब संसार के काँटे पैर को छलनी बना देते हैं, जब जीवन की विवशताएँ जकड़ कर साँस लेना भी दूभर कर देती हैं तथाच जब जग-जीवन की धधकती ज्वालामुखी से उठने वाली अर्चिमालाएँ निर्दयता पूर्वक झुलसने लगती हैं तब भगवान को, भाग्यको और जमाने को कोसने लगते हैं। तब मस्ती टूट जाती है और फूट जाती है संसार की सुख-सुविधा सम्पन्न किस्मत। श्रम और सावधानी से सिद्ध होने वाला जीवन भी न रहा और आजीवन नशे की तरंगालोड़ित मादकता भी नहीं रही। धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।

दरिद्रता और गाँजा में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध तिरसठ का है। हमारे देश के साधु-संन्यासी नामधारी जीव-विशेष जो जीवन संग्राम से भाग खड़े होते हैं, दरिद्रता की शिक्षा दिया करते हैं। कभी वे अरण्य में रहकर अपनी तपःशक्ति से प्रजा की कुशल कामना किया करते थे। अन्न-धन से गृहस्थ की कोठी भरी रहे, ऐसा शुभाशीर्वाद दिया करते थे। आज उन्हीं के उत्तराधिकारी दिन रात गृहस्थों की छाती पर सवार रह कर उन्हें उजाड़ डालने का धन्धा उठा रखे हैं।

गृहस्थों की भाउकता, धार्मिकता और सिधाई का अनुचित लाभ उठा कर ये मोटे मुस्टण्डे गुलछर्रे उड़ाया करते करते हैं। भगवान के नाम पर, वेष के नाम पर और अपनी सज्जनता एवम् अपने सद्भाव के नाम पर गृहस्थ यह सब देखता है। समझता भी है और बरदाश्त भी करता है। इन साधुओं को और तो चाहिए ही, गाँजा अवश्य चाहिए। जो जितना ही अधिक गाँजा पीता है वह उतना ही बड़ा सिद्ध गिना जाता है। उसके पीछे-पीछे उतने ही अधिक लोग फिरते हैं। एक गाँजा पीने वाला 'साधू' किसी गाँव में आ गया। फिर क्या? गाँव भर के चिलमचट्टू निठल्लों का पौ बारह रहता है। बिना हर्रे फिटकरी के वे चोखा रंग उत्पन्न करते हैं। गपशप का आधार मिल गया और ऊपर से शंकर भगवान का प्रसाद मिला सो अलग। अब और चाहिए ही क्या? आखिर यह सब बोझ किस पर पड़ता है? गरीब गृहस्थों को चूसने वाले ये भगवान के भक्त नाम धारी जोंक हैं। इन्हें किसान झटके से अपने शरीर से उतार कर फेंक नहीं देता और स्वयं ये इतने ढीठ हैं कि शरीर में जब तक रक्त है चैन नहीं लेने देंगे।

कहावत है कि "रोजा छुड़ाने गए, नमाज पड़ी गले।" यही दशा किसानों की है। वे साधुओं के यहाँ जाते हैं शिक्षा ग्रहण करने। जीवन संग्राम में निराश न होने की प्रेरणा ग्रहण करने। यही हमारी परम्परा है और यही हमारी सभ्यता-संस्कृति की विशेषता है। हम जीवन संग्राम का आशीर्वाद लेने उस व्यक्ति के पास जाते हैं जिसने हथियार रख दिया है। हम वास्तविक पूजा उसकी करते हैं जिसने सब कुछ छोड़ दिया है। त्याग और तप ही जिसके पास अवशिष्ट है। तपस्वी की एक लँगोटी में ही हम अखिल विभूतियों का दर्शन कर कृतकृत्य होते हैं। आज हंस के स्थान पर कौओं के विराजमान हो जाने के कारण दशा उलटी हो गई है। हंस भी हैं परन्तु उनकी पहचान कठिन है। [illegible]ओं के बीच अपनी मर्यादा अरक्षित समझ कर उन्होंने दामन समेट

कर छिपे रहना ही उचित समझा। रह गए प्रत्यक्ष कोरे कौए। ये भला कांव-कांव के अतिरिक्त और क्या करेंगे। सारांश यह कि साधुओं के नाम पर रह गए 'गँजेड़ी'। इनकी शिक्षा का प्रथम सोपान गांजा होता है। गाँजा पीने वाले प्रेम से पास बैठते हैं और गुणगान करते हैं। गांव के कितने ही गांजा पीने वाले घरबार और स्त्री बच्चों को छोड़कर सिर्फ इसी लिए साधू हो जाते हैं कि गांजा खूब पीने को मिला करेगा। काम सरल भी खूब है। पूजा भी होती और गाँजा भी मिलता है। प्रत्येक 'साधू' के इतिहास की खोज की जाय तो अधिक नहीं, दस पन्द्रह वर्षों के अन्दर ही कितने ऐसे जीव निकल आयेंगे, जिन्होंने गाँजा के लिए तथा बिना काम धाम किए सुचिक्कन—सुस्वादु भोजन पाने के लिए साधुता ग्रहण की। उन्हें इस पथ का पता किसने बताया? उनका मार्ग प्रदर्शक कौन है? गाँवों में जाकर गाँजा-भाँग का अखाढ़ा जमाने वाले ये 'साधू' अवश्य ही किसानों का बड़ा अपकार करते हैं। एक गलत उदाहरण स्वरूप अपना जीवन उनके सामने रख कर उनके भोले मस्तिष्क पर अत्यन्त विषैला प्रभाव छोड़ते हैं।

शिक्षा और संस्कार की हीनावस्था क्या क्या कुमार्ग दिखाती है, इसे गाँवों में आकर कोई देखे। नशे बाज पुरुष ही होते थे परन्तु अब स्त्रियाँ भी इस क्षेत्र में उनके कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने लगीं। आखिर अर्द्धाङ्गिनी ही तो ठहरीं! पुरुष के प्रत्येक कार्य में यदि हाथ बटाना, उनके पद-चिन्हों पर चलना उनका धर्म है तो इसमें क्यों वे पग पीछे हटाएँ। अब वह जमाना दूर नहीं जब होड़ में वे नम्बर मार ले जायँगी। हमने देखा है कि नशे के नाम पर स्त्रियाँ केवल हुक्के तक ही सीमित न रहीं बल्कि आगे बढ़कर बीड़ी और सुर्ती आदि का भी सेवन करने लगीं। अचरज नहीं कि वे गाँजा भी पीने लगें। बीड़ी तो जीवनाधार होती जा रही है। एक गाँव के मुखिया ने हिसाब लगाकर बताया कि हमारे गाँव में चोरबत्ती (टार्च) बीड़ी, साबुन, तेल की

इतनी खपत है कि उसे रोक कर धन बचाने से एक कन्या-पाठशाला चलाई जा सकती है। अकेले बीड़ी का व्यय एक हजार रुपया तक अनुमानतः पहुँच जाता है। नमक-तेल और खली-तम्बाकू बेचने वाले बनियाँ की दूकान पर आज जब सिगरेट की टिन, स्नो-पाउडर आदि के डिब्बे, साबुन-तेल के सेट देखते हैं तो अचरज में पड़ जाते हैं। आखिर ये चीजें कहाँ जाती हैं? बाहर किसानों में ही शौकीन जीव हैं। इनके अतिरिक्त मूल बिक्री का श्रोत तो घर के भीतर है। देवियों के मन में प्रत्येक नवीनता के लिए प्रबल आकर्षण उत्पन्न हो गया है और है भी यह स्वाभाविक नाइनसे अपना पैर और होंठ रँगवाने में आज वे शरमाती हैं। हिचकिचाती हैं। उन्हें आज चमचमाते पैकेट में 'लिपस्टिक' की शीशी चाहिए। मिट्टी से मलकर सिर क्यों साथ करेंगी जब 'हमाम' और 'लक्स' की बट्टियाँ बनिए बेचते हैं? उबटन का प्रचार भी दबता जाता है। उनकी जगह पाउडर आदि आ गए। यह सब घर फँक तमाशा शनैः शनैः शुरू है। गाँवों की छाती पर ये नशे और विलासिता के प्रसाधन सवार हैं। स्वास्थ्य और धन की सत्यानाशी होली खेली जा रही है। घर के बाहर की समस्या प्रकाश में है परन्तु घर के भीतर अन्तःपुर के अन्धकार में क्या क्या विनाश लीला चल रही है इसे हम ठीक ठीक नहीं देख पाते।

हमने यह देखा है कि ग्रामीण अपनी थकान मिटाने की गरज से हुक्का पीते हैं। श्रम और हुक्के का यह समझौता किस प्रकार हुआ?

यदि वास्तव में तम्काकू-बीड़ी पीने से थकान मिट जाती, सुर्ती खाने से काम करने में मन खूब लगता और गाँजा पीने से सचमुच मस्ती आ जाती तो प्रत्येक व्यक्ति जब आवश्यकता होती इनका सेवन कर लेता? परन्तु बात ऐसी नहीं हैं। जो उन्हें नहीं खाते-पीते अथवा जिनको इनकी आदत नहीं है। वे यदि उन्हें पी-खा लें तो कदाचित दो-चार घण्टे तक काम करने जी शक्ति भी न रहे। अतः यह निर्विवाद है कि न थकान

मिटाने का, न मन लगाने का और न मस्त बनाने का यह वास्तविक प्रसाधन है। ये बातें मन की झूठी कल्पना हैं। हमने इनका सेवन करते हुए यह धारणा बना ली है और वही धारणा अपनी तुष्टि चाहती है। हमने एक आदत बना ली है। वह पूर्ण होने पर सन्तोष एक विराम के रूप में सामने आता है। न केवल श्रम के समय बल्कि बेकारी के समय भी तो इनका सेवन होता है? क्यों न कहा जाय कि ये बेकारी बढ़ाने वाले हैं। चारपाई पर से उठते ही सर्वप्रथम हुक्का या बीड़ी चाहिए। भला रात भर कौन साश्रम हुआ है? नींद से तो स्वयमेव थकान निकल जाती है, फिर यह धूम्रपान क्यों? बस सिर्फ आदत। नित्य निरन्तर के अभ्यास से इसने चेतन पर एक गहरी लीक जमा दी है। क्षण-क्षण में वह उसकती रहती है। अब चाहे काम करें, चाहे बैठे रहें वह तो समय-समय पर चाहिए ही। न मिलने पर मन बेचैन हो उठता है। कुछ अच्छा नहीं मालूम होता। अर्द्धपागल की दशा हो जाती है। तबीयत चिड़चिड़ाने लगती है। थकान की मालूम होती है। आलस सा प्रतीत होता है और अपने इष्ट नशे को छोड़कर संसार की कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। जब तक वह प्राप्त नहीं होता। चैन नहीं। मिलने पर ही राहत मिलती है। यह नशे की उपयोगिता नहीं आदत की भूख है। किसान कहता है कि हुक्का उसका मित्र है। परिश्रम करने पर जी हलका कर देता है। यह उनथा कोरा भ्रम है। उन्होंने ऐसा मान भर लिया ह। वास्तव में बात ऐसी है नहीं। उन्हें उनकी पोषिता आदतें नचाया करती हैं। वे खेत में काम कर रहे हैं। हुक्के की याद आयी। उनकी आदत तबीयत में सुरसुरा उठी। काम छोड़ देने को जी चाहने लगा। यहीं झूठी थकान भी मालूम हुई। उन्होंने आग बनाई, चिलम भर ली और चारदम लगाया तब जाकर कहीं चैन मिला। थोड़ी देर बाद फिर यही दशा हुई। जिन्हें इनकी आदत नहीं वे इस प्रकार बेचैन नहीं होते। सच्ची थकान के लिए एक लोटा शीतल जल और

पेड़की घनी छाया काफी है। सिद्ध है कि श्रम और तम्बाकू आदि से संधि नहीं दुरभिसंधि है। इस जाल में फँस कर किसान नंगा नाच नाचता है। बेकार और श्रमिक दोनों नशा चाहते हैं। कैसी विपरीतता है ? सच यह कि तम्बाकू न तो बेकारी में समय काटता है, न क्लान्ति का परि-शमन करता है। विपरीत इसके बेकारी को बढ़ाता है और पीड़ा को उत्तेजित कर देता है। बेकार यदि तम्बाकू के सहारे नहीं रहता तो कुछ करता तो ! श्रमिक अपने अमूल्य समय को धुँए के साथ उड़ाता तो नही ! दोनों का साथ यह कैसे हो सकता है ? दोनों दो पथ के यात्री हैं। एक निर्माण की दिशा में जाता है दूसरा विनाश की। तो क्या यह विनाश पथा का प्रदर्शक और निर्माण पथ का रोड़ा है ?

हुक्का नवाबी युग की देन है। इसके इतिहास के पीछे मुगल काल की विलासिता छिपी हुई है। किसी न किसी प्रकार छाया की भांति नवाबी शान हुक्के में दिखाई पड़ जाता है। हमारे किसानों ने नवाबी युग की शान को अपने कन्धे पर ढोया है। आज कोई एँठ कर चलता है तो कहते हैं "नवाब का नाती" हो गया। कोई बढ़-चढ़ कर खातिर करता है। बढ़िया तम्बाकू पिलाता है तो उसकी लड़ाई को नवाब के साथ जोड़ने में ही उपयुक्तता समझते हैं। (अब अंग्रेजों के युग में 'नवाब' का स्थान 'लाट' ने ले लिया) नवाब के सिरहाने का तम्बाकू मशहूर है। बारात के समय या किसी जलसे के समय ग्रामीण थोड़ा सुगन्धित और उत्तम कोटि का तम्बाकू बाहर से खरीद कर लाते हैं। पीने वाले प्रसन्न होकर, मुंह बना बना कर पीते हैं। नवाबों का वह शानदार युग था जब वैभव की चमक-दमक के बीच सदा हुक्का विराजमान रहता था। आज भी धनीमाना किसान उस विधि को पूर्ण करने में कोर-कसर नहीं रखना चाहते। मौके-मौके पर यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है। और समय अपने हाथ से तम्बाकू चढ़ा लेंगे परन्तु चार आदमियों के सामने, इज्जत के मौके पर बाकायदा नौकर तम्बाकू भरेगा।

महफिल में हुक्का आ गया। फिर क्या पूछना ? यह नवाबी मनोवृत्ति शादी-ब्याह के अवसर पर अच्छी तरह खुलती है। तनिक में तुनक जाना और बात बात में बात उठाना। बारात के रस्म-रिवाज में भी हुक्का और सुर्ती-बीड़ी का प्रथम स्थान है। जीवन की समस्त समहत्वपूर्ण हचचल तम्बाकू-बीड़ी से भरी है और रातदिन स्वास्थ्य की हवेली में सेंध लगाने वाला यह भयानक शत्रु हमारा मित्र बन कर फंसाये रहता है।

अंग्रेजी राज ने चाय की मुहर लगा दी। गाँवों में जैसे पग पग पर तम्बाकू और सुर्ती है वैसे ही शहरों में कदम-कदम पर चाय और सिगरेट है। इसकी हवा अब गांवों में पहुंच रही है पर बहुत ही कम। वहां तो हुक्का देव और बीड़ी देवी का एक छत्र राज्य है। सोकर उठते ही तम्बाकू चाहिए। चाय नहीं। एक चिलम और कभी-कभी दो-चार चिलम भी। नगर की चाय ही गाँवों में तम्बाखू बनी बैठी है। इसके मानी यह कि कुछ पढ़े लिखे लोग अंग्रेजी युग में हैं और शेष मूर्ख लोग नवाबी युग में। अपनी भारतीयता कहीं नहीं। कहाँ प्रातःकाल का उषःपान, जीवनपान और कहाँ अग्निपान। चाय का जहर और तम्बाकू की मैल। तम्बाकू-चाय वाले सबेरे जब तक नहीं पियेंगे। पाखाना नहीं जायेंगे। गाँवों में ऐसे लोग सबेरे-सबेरे चिलम लेकर आग सूँघते फिरते हैं। कितने कण्डे और उपले तम्बाकू में बरबाद होते हैं। जिसके दरवाजे पर निश्चित रूप से आग रहती है, देखा जाता है कि दबे पाँव मुँह अँधेरे में ही तम्बाकूचर आ पहुँचते हैं। प्रातः रामभजन की जगह पर हुक्के की अपवित्र पुड़-पुड़ सुनाई पड़ती है। कितने नशेबाजों को ठीक समय पर नहीं मिला तो जमीन-आसमान एक कर डालते हैं। टोल पड़ोस जाग पड़ता है। प्रातःकाल जब सो कर उठते हैं तो दिल की पँखुरी खुली रहती है। उस पर हुक्के का तप्त धूम फैलाना कितना हानि कर है ! यह बात उसके गुलाम लोग क्या जाने ? शुद्ध वायु में टहल कर जहाँ शक्ति खींचनी चाहिए। उषःपान

कर दीर्घजीवन और स्वास्थ्य का अर्जन करना चाहिए। रामभजन अथवा उच्च विचारों का चिन्तन कर आत्मोन्नति करनी चाहिए वहाँ लोग करते हैं नशे की तामसी क्रियाएँ। मस्तिष्क को विकृत करने, शरीर को विषाक्त करने और प्रत्येक प्रकार की दुर्बलता को आमंत्रित करने के अतिरिक्त इसे और क्या कहा जा सकता है?

भीख माँगना हो तो नशा सीखो, विशेष कर सुर्ती, किस्सा है कि एक एक आदमी सुर्ती बनाता चला जा रहा था। पीछे से एक सुर्ती खाने वाले ने देखा और तबीयत उतर आई। वह भी पीछे-पीछे चल पड़ा। कायदा है कि बनाने वाला पास के लोगों से पूछकर अथवा देकर खाता है। इसी की उसे आशा भी थी। बनाने वाले महाशय बड़ी मस्ती में बनाते चले जा रहे थे। जब काफी दूर चले आए तो पीछे वाले का धीरज छूटने लगा! माँगने का साहस होता नहीं था और इधर बनाने वाला बढ़ता ही चला जा रहा था। अब बन गई होगी, अब मिला रहा होगा, अब चूना झाड़ेगा अथवा अब इसे ठोककर अन्तिम रूप देगा, इस प्रकार की कल्पनाओं में मीलों दूर रास्ता पीछे छूट गया। अन्त में सुर्ती को ठोकने की ध्वनि कानों में आई। पीछे वाले के कान खड़े हो गये और हाथ सजग। सुर्ती मिलेगी। पर यह क्या? ठोक-ठाक कर महाशय जी जल्दी से सुर्ती समूची फाँक गए! जब तक यह बोले, सुर्ती उनके होठों के नीचे स्थिर हो चुकी थी।

जो अपने को बड़ा समझते हैं और किसी के सामने हाथ फैलाना नहीं चाहते, वे भी संयोग वश यदि सुर्ती खाने वाले हैं, तो जीवन में उन्हें अवश्य "भिखमंगा" बनना पड़ा होगा। सुर्ती माँगने की विचित्र-विचित्र प्रथाएँ हैं। कितने शौकीन सुर्ती न माँग कर पहले चूना ही माँगते हैं। यदि चूना मिल गया तो फिर तनिक सुर्ती भी। सोचते हैं कि पहले सुर्ती ही माँग कर क्यों अपनी कमजोरी जाहिर करें? यदि चूना लिए होगा तो सुर्ती अवश्य होगी। सुर्ती मुख्य है और चूना गौण।

सुर्ती माँगने की अपेक्षा चूना माँगने में कम हेठी है। कितने सुर्ती कभी नहीं खरीदते, तम्बाकू में एक पैसा भी व्यय नहीं करते तथा जीवन भर में एक चिलम भी गाँजा नहीं खरीदते। ऐसे लोग वहीं बैठते हैं जहाँ उक्त वस्तुओं के खाने पीने वाले होते हैं। रास्ते चलते लोगों से माँग लेना इनके लिए सरल है। देने वाले भी एक दो बार के बाद 'नहीं' कहना शुरू कर देते हैं। झूठ बोलने और बोलवाने का यह भी एक व्यापार है। उच्च जात्याभिमान रखने वाले अवसर पड़ने पर डोम की सुर्ती और चमार का चूना लेकर खाते हैं। सुर्ती खाने वालों की बेचैनी भी दर्शनीय होती है। किसी यात्री की सुर्ती चट गई तो आफत हो गई। वह निगोड़ी बारम्बार याद आती है और खाने के लिए जो ललआया रहता है। ऐसी दशा में प्रत्येक राहगीर उसे सुर्ती खाने वाले के रूप में दिखाई पड़ता है। प्रत्येक से वह याचना करता है। यही दशा अन्य नशों को भी है।

एक किसान घर से सुर्ती लेकर चला। उसे खेत पर जाना था। सोचा कि रास्ते में कोई चूना वाला मिल जायगा। मुखिया के द्वार पर आया। वहाँ पर चूना रखने वाले महाशय गांव में चले गए थे। वह आगे बढ़ा नदी पर आया। जितने लोग नहा रहे थे सब चूना रहित थे। एक के पास रिक्त चुनौटी थी। पुनः आगे बढ़ा। बगीचे में आया। एक व्यक्ति मिला। संयोगवश वह भी चुनौटी अपनी पाकिट में छोड़ आया था। आगे बांध पर दो-तीन आदमी दिखाई दिए। वे सुर्ती खाने वाले थे ही नहीं। पीछे से चार पांच व्यक्ति लाठी लिए आ रहे थे। उनमें एक व्यक्ति सुर्ती बनाते आता था। पास पहुँचते-पहुँचते वह सुर्ती खा चुका था और चूने के विषय में बताया कि उसने मुन्शी जी के यहाँ से लिया था। निराशा होकर वह आगे खलिहान में आया। सोचा कोई न कोई मिल ही जायगा। घन्टों प्रतीक्षा के बाद दो व्यक्ति आए। पूछने पर पता चला कि सुर्ती खाने को यदि मिलती

तो वे भी प्रसन्न होते मगर चूना नदारद ! अब और आगे बढ़ने अथवा प्रतीक्षा करने की धीरता नहीं रह गई और बिना खेत पर गए ही वह चूने की तलाश में गाँव की ओर मुड़ गया।

सबसे जबरदस्त मोर्चा बीड़ी का है। एक तरफ खाने का ठिकाना नहीं। अन्न के लाले पड़े हैं। एनकेन प्रकारेण ठेल ठाल कर जीवन तरी बालू की राशि पर चल रही है। जीवनोपयोगी वस्तुओं के लिए तरसते दिन जाता है। नमक-तेल भी जून पर नहीं रहता। सूखी रोटी चबा कर या सत्तू घोलकर ग्रामीण गुजर करते हैं विपरीत इसके वे बीड़ी पीते हैं। उनके पैसे का एक भाग इसमें व्यय होता है। उनकी शक्ति तो इस जहर से क्षीण होती ही है उनका धन भो धुँआ बन कर उड़ जाता है। फटी लँगोटी और चिथड़े पहनने वाले भी एकाध पैसे की बीड़ी नित्य पी जाते हैं। साल में कम से कम दस रुपए। यह रकम तन ढकने लिए पर्याप्त होती।

ग्रामीण बीड़ी की उस बाढ़ को रोक सकते हैं। आवश्यकता है थोड़े संगठन की। बीड़ी प्राप्त करने का यदि स्रोत ही रोक दिया जाय तो भी बहुत कमी हो जाईगी। बीड़ी गाँव का बनिया बेचता है। गाँव के दस सरदार यदि बनिए पर रोक लगा दें तो उसकी हिम्मत नहीं जो बेच सके। पीने वालों पर यदि दण्ड लगाना प्रारम्भ हो जाय तो छोटे-छोटे बालक इस विषपान से मुक्त हो जायँ। भले ही अधिक पीने वाले छुक छिप कर पीलें। दूसरे गाँव या शहर-बाजार से खरीद कर लाना तथा छिप कर पीना एक बड़ा बात हो जायगी। यह कोरी कल्पना नहीं है। लेखक के देखते दो वर्ष तक एक गाँव में प्रयोग चला। बाद में ढिलाई हो गई। तब से कई वर्ष बीतने पर भी बहुत कम लोग वहाँ बीड़ी पीते हैं।

कठिनाई यह है कि गाँव के शिक्षित और समझदार कहे जाने वाले लोग इस मर्ज के शिकार हैं। जब वे दूसरों को शिक्षा देते हैं तो उनकी

शिक्षा एक व्यंग अथवा मजाक हो जाती है। प्रायः देखा जाता है कि गाँजा पीने वाले पहले अपनी टेट से कटा कर चेला मूँड़ते हैं। जब चेले की आदत हो जाती है तो बिरादरी में शामिल करके भौज करते हैं। कितने ग्रामीण अपने बालकों की जो हुक्का नहीं पीते, कोसते हैं। उनका कथन है कि यदि पिआगे नहीं तो पिलाओगे कैसे? खातिरदारी कैसे होगी? इज्जत पर पानी फिर जायगा। इन सब बातों का क्या प्रभाव पड़ेगा? जहाँ चारों ओर हुक्का-बीड़ी और सुर्ती का साम्राज्य है, धुएँ की धूमधाम है वहाँ इनके भक्तों की क्या कमी? दुर्भाग्य है आने वाली पीढ़ी के लिए। जिनके लिए युग-युगान्तर से ये नशेबांज रास्ता बनाते चले आ रहे हैं। एक गहरा संस्कार जम चुका है। एक धारणा बन चुकी है। नशे ने जीवस में स्थान पा लिया है। यह सभ्यता का एक अंग बन चुका है। इस गलत वस्तु ने सही का दर्जा पा लिया है। जानकार लोग इसे गले लगाए हैं। इसके बाद विप्र का डंका पीटने वाले इसे मुदित भाव से सिर चढ़ाए हैं। ऐसा दशा में संगठित होकर इस नशे से मोर्चा लिया जाय तब सफलता मिल सकती है। गाँवों के जवान इस पवित्र कार्य को अपने हाथ में ले लें। पतन चाहे जितना हुआ हो, परन्तु गाँव के जवानों में अभी भी असम्भव को संभव कर देने की शक्ति मौजूद है। उनका प्रबल कराघात पाते ही नशे का दुर्ग धराशायी हो जायगा। यदि समझते हैं कि इससे बरबादी है तो फिर इस बरबादी से प्रेम क्यों? एक आदत है जो अपने बड़ों से सीखी गई है। एक प्रायश्चित्त है जो पूर्वजों के पाप का है। चुनौती है एक हजार वर्ष के बाद स्वतंत्र हुए किसानों के लिए। ग्रामीण जिस दिन अपने को बीड़ी-तम्बाकू और सुर्ती की गुलामी से मुक्त कर लेंगे उस दिन वास्तव में वे आजाद हो जायेंगे।